जागोरी की द्विमासिक पत्रिका
जनवरी–फरवरी 2009

हम सबला

इस अंक में

सशक्त किशोरियां

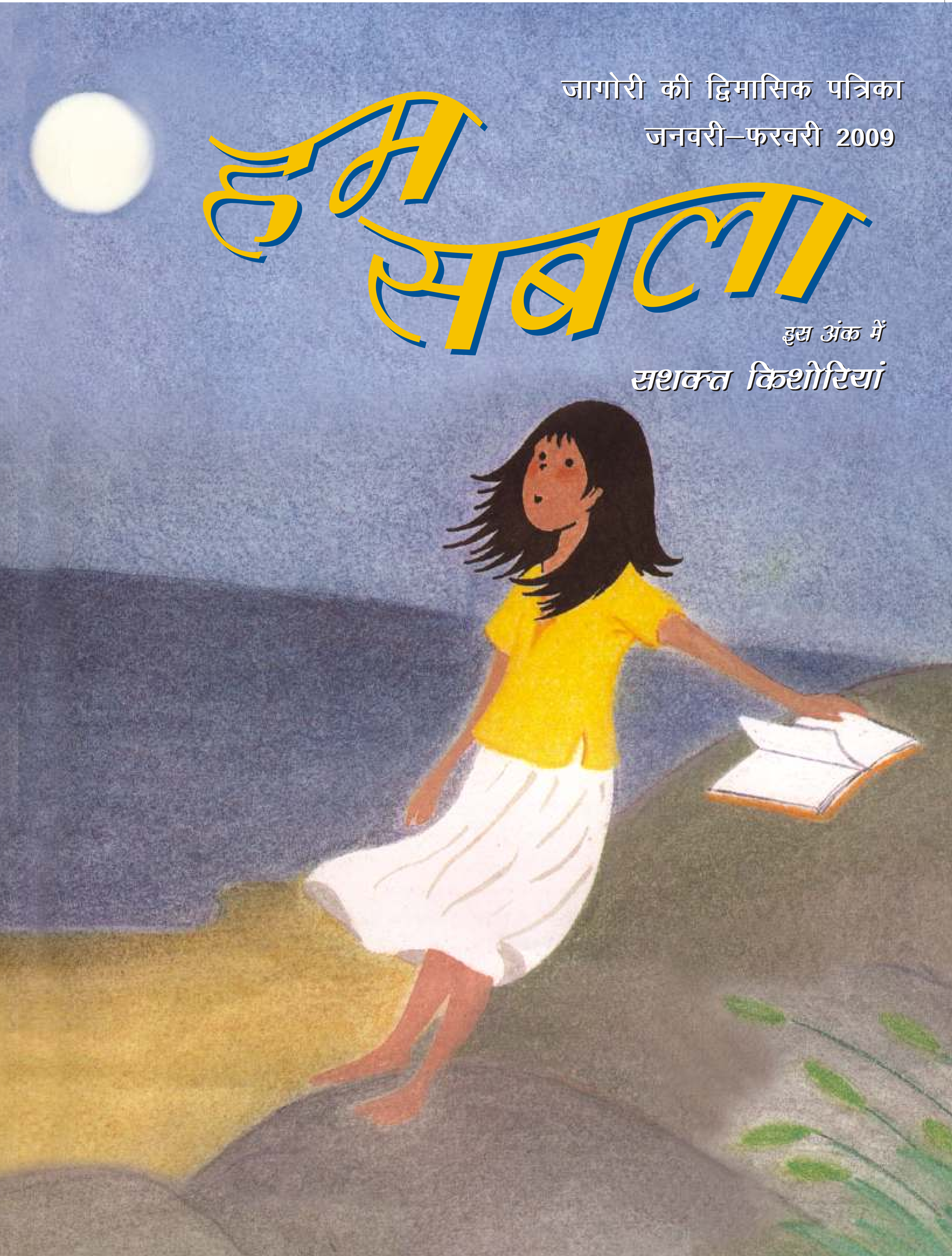

हमारी बात

जीवन की शुरूआत *का अर्थ होता है एक मुहब्बत भरी दुनिया की दहलीज़ पर पहला कदम, उम्मीद और भरोसे के कीमती और नायब लम्हें, एक खुशगवार सफ़र की सम्भावना जो अनजाने ख्वाबों से सराबोर हो, एक खूबसूरत चमत्कार जिसका स्वागत हो और जिसका जश्न मनाया जाए। पर ऐसा तब जब आपने भारत में एक लड़की के रू प में जन्म न लिया हो।*

भारत में एक लड़की का जन्म कोई खुशी लेकर नहीं आता। बल्कि अक्सर परिवारों के लिए यह एक मायूसी का कारण होता है। एक बेटी के माता-पिता का सामाजिक दायित्व है कि वह अपनी इस 'बदकिस्मती' के साथ समझौता करें और अपनी 'अनचाही' बेटी को अपने इस 'अनचाहेपन' से तालमेल बैठाना सिखाएं। इसी माहौल में परवरिश पाती बेटियां दूसरे दर्जे के यात्रियों की तरह जीवन का सफ़र तय करती हैं। न कोई सुविधाएं, न हुनर दिखाने के मौके और न ही चुनाव का हक़। इसकी जगह नियमों की एक लम्बी फेहरिस्त और बंदिशों और सीमाओं की सरहद को 'ज़िंदगी का हिस्सा' मान लेने की सीख।

पर क्या यह इंसाफ़ है? नहीं, यह इंसाफ़ नहीं है। स्त्री भ्रूण हत्या के सबसे पहले घात से बच निकलने की कीमत एक लड़की, कम प्यार, कम देखभाल, कम भोजन, कम खेल-कूद, कम सुरक्षा और अपनी भलाई के नाम पर वंचनाओं और मनाहियों की कैद से चुकाती है। खुशियों की संभावनाएं उसके लिए एक संकुचित दायरे में सिमट कर रह जाती हैं।

इसके साथ-साथ भारत में बेटियों को 'समझौते' का एक विशेष पाठ पढ़ाया जाता है जिसे हमारी किशोरियां बखूबी समझती हैं। अपने बचपन के हर पड़ाव पर वे अपनी मांओं को तालमेल बैठाते देखतीं हैं। और वे जानती हैं कि कुछ सालों बाद उन्हें भी अपनी बेटियों को 'एडजस्ट करो' की सीख देने की चुनौती से गुज़रना होगा। ये सब कुछ और नहीं बल्कि नाइंसाफ़ियों भरे 'समझौते' ही तो हैं। पर एक बच्ची से औरत बनने के सफ़र में यही समझौते हमारी लड़कियों को हर कदम पर करने पड़ते हैं।

पर क्या किसी के लिए यह एक चिंता का विषय है? भारत सरकार ने 2009 में बालिका शिशु के लिए एक राष्ट्रीय दिवस मनाने का इरादा किया है। महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने 24 जनवरी को राष्ट्रीय बालिका दिवस घोषित किया है, जब तक सभी समस्याओं को सम्बोधित करके उनका समाधान न ढूंढ लिया जाए। पर ऐसा कब तक होगा कोई नहीं कह सकता।

यह कोई पहली बार नहीं है जब सरकार ने लड़कियों के नकारात्मक दर्जे पर गौर किया है। 1990 में भारत ने दक्षिण एशिया के छः अन्य देशों के साथ मिलकर 'बालिका शिशु क्षेत्रीय वर्ष' की घोषणा की थी। फिर यह एक वर्ष की अवधि दस वर्ष तक बढ़ा दी गई। बालिका शिशु के लिए 'सार्क दशक' में सरकारों ने राष्ट्रीय योजनाएं बनाईं। भारत ने भी कुछ सराहनीय कदम उठाए। पर यह दशक भी समाप्त हो गया और बालिकाओं के जीवन और दर्जे में कोई ठोस परिवर्तन देखने को नहीं मिला। तब से अब तक एक और दशक बीत चुका है। अब हम अपनी ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना से गुज़र रहे हैं पर समाज में व्याप्त असमानताएं आज भी बरकरार हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि मुक्ति और समानता महज एक दिन, एक वर्ष या एक दशक की घोषणा कर देने से नहीं आती। यह आती है अपनी आंखें खोलने से, अपनी सोच में बदलाव लाने और ज़िम्मेदारी उठाने से। ऐसा हम जितनी जल्दी समझ जाएं उतना हम सभी के लिए अच्छा रहेगा।

रज़िया इस्माइल-अब्बासी

अन्यायी समझौतों के बीच जीती किशोरियां

रज़िया इस्माइल-अब्बासी

भारत ने महिलाओं के कमतर दर्जे को काफी वर्षों पहले ही स्वीकार कर लिया था। पर औरतों की जनसंख्या में से कौन सा वर्ग समूह सबसे अधिक कमतर है यह पहचानना अभी बाकी है और यही एक वजह है जिसके कारण महिलाओं को समाज व राज्य दोनों से न्याय पाने के लिए इंतज़ार करना पड़ रहा है।

सच तो यह है कि हर 100 भारतीयों में से 41 अट्ठारह वर्ष से कम यानी बच्चे हैं। अगर हम उन्नीस वर्ष से अधिक लोगों की गिनती करें तो पाएंगे कि हर 4 भारतीयों में से 1 लड़की है। यानी 8.1 करोड़ युवा किशोर एक उपेक्षित वर्ग में शामिल हैं।

बच्चों पर गौर करें तो किशोरियों के आंकड़ें बौखला देने वाले हैं। 1991 जनगणना ने 0-6 वर्ष के बच्चों के समूह में कम होती बच्चियों की ओर हमारा ध्यान खींचा है और हम इस सच से वाकिफ़ हैं कि दिन-ब-दिन लड़कियों की संख्या गिरती चली जा रही है। पर इस उम्र समूह की जो बच्चियां जीवित बचीं उनका क्या हाल है यह कोई नहीं जानता? 1991 जनगणना की एक अन्य अहम् बात पर हमने गौर नहीं किया है- किशोर वर्ग में लड़कों की तुलना में लड़कियों का अनुपात और अधिक कम पाया गया है।

2001 जनगणना के अनुसार 15-19 उम्र समूह में स्त्री-पुरुष अनुपात सबसे अधिक खराब है, हर 1000

किशोरों पर मात्र 858 किशोरियां पाई गई हैं। यह अनुपात 0-6 उम्र समूह जिसमें हर 1000 लड़कों पर 927 लड़कियां हैं से भी कम है। 1971 से लेकर 1991 तक यह अनुपात सबसे अधिक कम पाया गया है। अगर तीस वर्षों से जनगणना आंकड़ों में यह पाया गया है तो अब तक हमारी सरकार-या हम इस खतरे से चौकें क्यों नहीं हैं? और अब 2011 जनगणना आंकड़े क्या सच हमारे सामने लेकर आएंगे?

छोटी आयु वाले बच्चों में पांच वर्ष की बच्चियों के आंकड़े सबसे अधिक खराब पाए गये हैं-हर 1000 लड़कों पर 879 लड़कियां पाई गईं। 7-11 वर्ष समूह में भी 879 लड़कियां पाई गई हैं। परन्तु जैसे-जैसे बच्चियां किशोरावस्था की ओर बढ़ती हैं यह अनुपात बिगड़ता जाता है। 12-19 वर्ष समूह में हर 1000 किशोरों पर पूरे भारत का अनुपात है 826 किशोरियां और शहरों के 18 वर्ष समूह में मात्र 816 किशोरियां पाई गई हैं। सबसे बढ़िया लिंग अनुपात 13 वर्ष समूह में है- 1000 किशोरों पर 947 किशोरियां।

सवाल यह है कि जिस वर्ष समूह का लिंग अनुपात सबसे अधिक कम पाया गया है उसके लिए क्या ठोस कदम उठाए गये हैं? ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में 13 वर्ष व 14 वर्ष के बीच 33 से 40 प्रतिशत का फ़र्क़ पाया गया है। आखिर क्यों?

किसी वजह से बच्चों पर केंद्रित सरकारी कार्यक्रम व नीतियां उम्र वर्ग के बीच अंतर से अनभिज्ञ रहते हैं। इसी कारण से सरकार और नीति निर्माता यह नहीं समझ पाते कि हर उम्र वर्ग की अपनी ज़रूरतें, खबरें व समस्याएं हैं। तो फिर किशोर लड़के व लड़कियों के लिए कार्यक्रम क्यों नहीं बनाए जाते? 14 वर्ष वाला उम्र समूह युवा कल्याण मंत्रालय के भी तहत आता है, पर 14-18 वर्ष के बच्चों के विकास और सुरक्षा को लेकर कोई ठोस प्रयास नज़र नहीं आते।

कुछ इसी तरह की बेरुखी किशोरियों को लेकर भी नज़र आती हैं। किशोरियों के लिए कौन ज़िम्मेदार है? कौन उसे बेरुखी, शोषण, घरेलू काम के बोझ, अशिक्षा, अपर्याप्त भोजन, बीमारी, जल्दी विवाह, मातृत्व की ज़िम्मेदारी से निजात दिलाएगा? कौन इस बात पर गौर करेगा कि किशोरावस्था की दहलीज़ पर कदम रखते-रखते उसका सामाजिक दर्जा तय हो चुका होगा और उसकी मुक्ति की तमाम संभावनाएं दम तोड़ चुकी होंगी। चाहे वह स्कूल में हो या नहीं उसकी सामाजिक शिक्षा उसके आने वाले जीवन को गढ़ चुकी होगी? हद से हद सरकार अपने सीमित विकास के नज़रिये को ध्यान में रखकर उसे सुरक्षित मातृत्व की सलाह प्रदान करेगी? तो क्या एक किशोरी की सिर्फ़ यही आकांक्षा होनी चाहिए? उसके अपने व्यक्तित्व के विकास का क्या? उसकी खुशी के सवाल का क्या?

किशोरावस्था की ओर बढ़ती हुई लड़कियों पर महिला-केंद्रित और बाल-विकास नीतियों, कार्यक्रमों, मंत्रालयों और विभागों की तवज्जो होनी चाहिए। साथ ही युवा मंत्रालय की स्कीमों और सरोकारों में भी इस विशेष वर्ग का ध्यान रखा जाना चाहिए। पर क्या ऐसा होता है? तकनीकी आधार पर बालिका शिशु बाल विभाग, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के तहत आता है। पर सच तो यह है कि यह किशोरी वर्ग समूह विभिन्न मंत्रालयों के गलियारों में घूमता रहता है। न तो ये बच्चियां हैं न औरतें इसलिए किसी की भी पूर्ण जबाबदेही इनके प्रति स्थापित नहीं होती।

जिस तरह विकास योजनाओं में लिंग समानता को लेकर जागृति ज़रूरी है उसी तरह उम्र के प्रति जागृति भी आवश्यक है। बड़े बच्चों के लिए राष्ट्रीय प्रयासों में इन दोनों कारकों की गैर मौजूदगी स्थापित हो चुकी है। किशोरियां यहां भी दरकिनार की गई हैं। और जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती जाती है वे और अदृश्य होती जाती हैं। कोई नहीं जानता कि उन्हें कौन से रास्ते तलाशने होगें, कौन जाने किस मंज़िल को पाने के लिए उन्हें क्या सीखना व करना चाहिए? इससे अधिक अफसोस की बात यह है कि किसी को भी इसकी परवाह नहीं है। अगर भारत चाहता है कि उसकी स्त्रियां 'चेंज ऐजेंट' बनकर बदलाव लाएं तो इस बदलाव के लिए ज़रूरी सूझबूझ और आत्मविश्वास वो कहां से लाएंगी?

यह चिंताजनक है कि महिला व बच्चों के लिए अलग से शुरू किए गये मंत्रालय में भी अपने विषय को लेकर समझ नहीं बनी है। यह न सिर्फ़ भारतीय महिलाओं के विकास के लिए ही नहीं पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास के लिए गंभीर आयाम है। महिला विकास योजनाएं बनाने वालों को

यह स्पष्ट होना चाहिए कि उनकी स्त्री-जनसंख्या का आधा भाग बच्चे हैं और इन बच्चों में आधी लड़कियां हैं। इन दोनों समूहों को यह भी ज़ाहिर होना चाहिए कि 'लगभग' शब्द महिला प्रगतिशीलता और बाल अधिकार दोनों के लिए यह एक समता और न्याय का मुद्दा है।

किशोरियां जन्म से शुरू होकर बचपन से गुज़रते हुए वयस्क महिला तक के सफ़र में अपने साथ हुई नाइंसाफ़ियों के मूक प्रमाण के रूप में हमारे सामने खड़ी हैं। भेदभाव, मनाहियां और उपेक्षा उनकी किशोरावस्था का एक कड़वा सच है बस उसके रूप और व्यवहार बदलते रहते हैं।

एक सरकारी पर्चे में किशोरियों के प्रति इस रवैये को 'विमेन वेस्टेजिस' या 'औरतों का अपव्यय' कहा गया है। इस जुमले का अर्थ क्या है? इस पर्चे में कम देखभाल, कम पोषक भोजन, खराब स्वास्थ्य, जल्द विवाह, मातृत्व, कमज़ोर बच्चे, मातृत्व मृत्युदर के प्रभाव भी सूचीबद्ध किए गए हैं। इसमें कहा गया है कि नकारात्मक सामाजीकरण के नतीजतन लड़कियां कमज़ोर, दब्बू और आत्म-बलिदानी बन रही हैं। पर 'महिलाओं का अपव्यय' अपने आप में ही एक ऐसा जुमला है जिसमें असमानता निहित है क्योंकि इसमें लड़कियों को सिर्फ़ पत्नी या मां के रूप में देखा गया है, एक इंसान का दर्जा नहीं दिया गया है। तो जो हम खो रहे हैं वह वास्तव में 'राष्ट्रीय अपत्यय' है।

तो फिर सकारात्मक सामाजीकरण के लिए क्या रास्ते हो सकते हैं? किसी भी बच्चे के लिए एक सही में 'लाईफ़ साइकिल अप्रोच' के मायने होगें उसे पारम्परिक सामाजिक और पारिवारिक भूमिकाओं की सीमाओं से आज़ाद करके विकसित होने का सम्पूर्ण मौका मिलना। पर ऐसा हो रहा है इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देखने को नहीं मिला है।

2005 के *राष्ट्रीय प्लॉन ऑफ़ एक्शन* में बालिका शिशु और किशोर वर्ग पर विशेष खंड हैं। बालिका शिशु के लिए लक्ष्य है- व्यक्तिगत व नागरिक आधार पर "समानता की गारंटी"। इसमें पूर्वग्रह और हिंसा खत्म करने का भी उल्लेख है। रणनीतियों में एडवोकेसी, कानूनों को लागू करना, सम्पूर्ण स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा के प्रयास शामिल हैं।

किशोर वर्ग के लिए लक्ष्य हैं- "सम्पूर्ण अवसर और बाल विवाह का अंत"। साथ ही धर्म निरपेक्षता और स्वास्थ्यवर्धक जीवन शैली के प्रति जागरुकता, देशभक्ति और सामाजिक न्याय के प्रति अटल प्रतिबद्धता। रणनीतियों में जानकारी और शिक्षा के साथ-साथ खेलकूद और मनोरंजन भी शामिल हैं।

मौजूदा *ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना* में बच्चों, युवाओं और महिलाओं के हित के लिए कुछ ठोस मानक और व्यावहारिक कदम भी सुझाए जाने चाहिए। फिलहाल उसमें ऐसा कुछ नहीं है। हालांकि इस योजना में समता को लेकर कुछ अच्छी बातों का उल्लेख किया गया है पर वास्तविक वचनबद्धता की कमी नज़र आती है।

"युवाओं के लिए" खण्ड में कहा गया है "युवाओं में निवेश करने के लिए इससे बेहतर समय नहीं है"। राष्ट्र विकास में युवाओं को शामिल करने और लैंगिक न्याय की भी इसमें बात की गई है। पर इसे कैसे पाया जाए इस पर कोई सुझाव नहीं है।

"महिलाओं और बाल अधिकार" खण्ड में 0-6 वर्ग में 2012 तक लिंग अनुपात 927 से बढ़ाकर 935 करने की बात है पर इसमें भी किशोरियों को नज़रअंदाज़ किया गया है। बाल विवाह की कुप्रथा पर भी चिंता जताई गई है। "किशोरियों को सबसे अधिक उपेक्षित समूह" के रूप में स्वीकारा गया है। पर अंत में केवल स्वास्थ्य खतरों, स्थानीय स्वास्थ्य व आईसीडीएस कार्यकत्ताओं द्वारा मासिक सलाह-मश्विरा, आयरन की गोली व अतिरिक्त पोषण की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया है।

पर राष्ट्रीय योजना में समानता की गारंटी का लक्ष्य कहां गुम है यह सवाल अब भी बरकरार है।

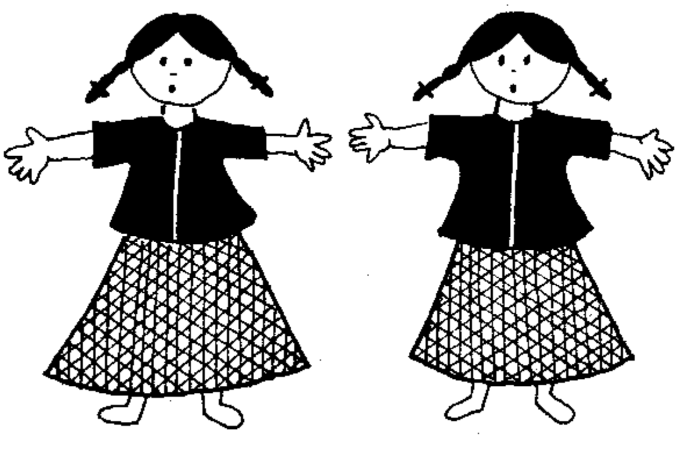

लेख

अपनी दुनिया की नक़्क़ाशी करती ज़िन्दगियां

शर्मिला भगत

मैंने बहुत प्यार से एक डायरी बनाई थी, जिसमें मैं अपनी सारी बातें लिखती थी। वो डायरी मेरी दोस्त थी। मुझे उसे पढ़ने में बहुत मज़ा आता था। मेरी इस डायरी के बारे में घर में किसी को नहीं पता था। बस, मेरी बड़ी बहन और मेरी एक दोस्त को मालूम था। जब भी घर का काम ख़त्म होता तो हम दोनों घर का कोई कोना ढूंढ़ते, अपनी डायरी को पढ़ने के लिए। आज भी हम उस कोने में बैठकर अपनी डायरी पढ़ रहे थे। उसका वही पन्ना खुला था जिसमें शेरो-शायरी लिखी थी। न जाने कब मेरा बड़ा भाई आया और उसने वो डायरी मेरे हाथों से छीन ली। भाई ने उसे पढ़ा, पता नहीं उसके दिमाग में क्या आया जो उसने उस डायरी के दो टुकड़े कर दिए। जहां तक मुझे याद है, मैंने अपनी उस डायरी में ऐसा कुछ नहीं लिखा था जिससे मेरे परिवार को कोई ठेस पहुंचे। उस वक़्त मुझे ऐसा लगा जैसे किसी ने मेरे ही दो टुकड़े कर दिए हों।

राखी
शशि गार्डन, नई दिल्ली

वे अपने-अपने रियाज़ में मगन हैं। इन रियाज़ों में अपने लिए एक दुनिया रचने की चाह छुपी होती है। अपने आपको दोहराना और अपने लिए उस दुनिया के बीच में जगह बनाना, उन अलग-अलग रियाज़ों को नई कल्पनायें देता है, जिसके लिए वे अपनी बेहद मज़बूत दिनचर्या में से कुछ ख़ास वक़्त चुरा लेती हैं। कल्पनाओं की उड़ान और दुनिया रचने की चाहत उनके हर दिन को ताज़ा रखती है।

दरअसल उनके भीतर एक चाह है खुद का एक कोना बनाने की। ये कोना उनके लिए वे किनारे नहीं, जो उनके आसपास होती या बीतती दुनिया से उन्हें जुदा कर दे। ये कोने उनमें खुलकर जीने की उमंग भरते हैं। ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव में, रोज़मर्रा के सपाट रूटीन में, उनके इन रचनात्मक पलों की अपनी एक जगह है। हर वक़्त चलती निरंतरता के बीच कुछ अपने पल-जिनको संजोना, संवारना, बनाना, रखना - चलता रहता है।

इस शहर के मानचित्र में ऐसे कई रियाज़ हैं, जो अपने में ही जीये चली जा रही हैं। इन रियाज़ों के तार उन्हें कई ऐसे अंजान रिश्तों, जाने-पहचाने चेहरों और आसपास की उन जगहों से जोड़ती हैं जो उनकी दुनिया को रचने में गहरी भूमिका निभाती हैं। इन्हीं दुनिया के दरमियां वे अपनी कॉपियां शेरो-शायरी से भरती रहती हैं। स्कूटर या बस पर लिखी शेरो-शायरी को उतारती हैं और उनमें अपनी लाइनों को जोड़कर उन्हें नया अंदाज़ देती हैं। वे अपने आसपास ऐसे माहौल बनाती हैं जिनमें साथियों के बीच बैठकर सुनने-सुनाने का सिलसिला जारी रहे। शेरो-शायरी की तुकबंदी को अपनी ज़ुबान में चुपके से शामिल कर लेती हैं।

अपने पढ़ने की चाहत को सींचने के लिए कहीं ना कहीं से ये अपने लिए जेबी नॉवल ढूंढ लाती हैं और आपस में उसे एक-दूसरे से बांटती हैं। इस बांटन में महज़ नॉवल या किसी किताब की ही अदला-बदली नहीं होती बल्कि वे इसमें अपनी

प्रतिक्रिया के तोहफ़े भी साथ लौटाती हैं। जब तक आंख न लग जाये पढ़ते रहना, जहां मौक़ा मिले वहीं पढ़ना, जब घर के बाकी सब लोग टी.वी देख रहे हों तो उन कहानियों में खो जाना। कहानी के हर लफ़्ज़ से एक रिश्ता बनाते हुए उन पन्नों में डूब जाना, उसके किरदारों की स्थितियों को महसूस करना और उनके बारे में सोचना-विचारना।

इनमें से कई अलग-अलग तरह के संदर्भों में भी अपनी दिलचस्पी दिखाती हैं। ये सिर्फ़ कपड़ों की सिलाई ही नहीं करतीं बल्कि किसी मैगज़ीन के पन्नों से, किसी टीवी सीरियल या फ़िल्म के क़िरदार की वेशभूषा से, सड़क के बिलबोर्ड से या फिर किसी दर्ज़ी की दुकान से, कुछ-कुछ चीज़ें चुनकर, नये-नये रूप और कपड़ों की सजावट के लिए नये-नये डिज़ाइन सोचती हैं। किसी कपड़े पर कशीदाकारी, किसी पर क्रोशिया, किसी पर बटनों से बनाया नमूना। नये-नये रंगों का आपसी मेल - फ़ीके, चटक, सोफ़्ते रंगों का खेल।

इन रियाज़ों में रहने वाले ये साथी अपने डर, खुशी, याद और उन रिश्तों को भी सहेजकर रखती हैं, जो कभी किसी को सुनाए नहीं जाते। डायरी उनके इसी रिश्ते को तलाश करने की एक और सतह है। डायरी उनका एक ऐसा साथी बन जाती है, जो इन अहसासों को बड़ी बेफिक्री से सुनती है, जिसकी जगह हमारे घर और आस-पड़ोस के माहौल में भी नहीं होती। थके होने के बावजूद भी मद्धम रोशनी में इनकी कलम चुपचाप चलती रहती है। अपने फुदकते ख़्यालों, भटकती सोचों और उड़ती कल्पनाओं को ये पन्नों पर उतारती हैं। डायरी - अपनी और दुनिया की, अन्दर और बाहर की गोधूलि रेखा है।

स्कूल की दुनिया में ये निजी रियाज़ ओझल रहते हैं। सामाजिक परिवेश में भी उन्हें बांटने और मांजने के कम ही मौक़े होते हैं। इन रियाज़कर्त्ताओं को तालीम की ऐसी डगर की चाह है जो इन रियाज़ों को क़द्र और संभावनाओं के साथ देखे। ये रियाज़ नये तरह की जगहों की मांग भी रखती हैं और साथ-साथ ऐसी जगहों को रचने की क्षमता भी। ऐसी जगह और ऐसे माहौल - जो हर तरह के रियाज़ और कलाओं को, सम्मान के साथ, अपने अनुभवों को बांटने का खुला न्यौता दे। सुनने-सुनाने के साथ-साथ उस बुनाई में भी ले जाये जिससे एक-दूसरे के हुनर और कला की सिंचाई होती हो। अनुभव से अनुभव का ये रिश्ता बेहद रोमांचक होता है जो अपने साथ उड़ा ले जाने की न केवल क्षमता रखता है बल्कि इन रियाज़ों की उम्र को भी बड़ा कर देता है।

ज़िंदगी के इस दौर में जहां सामाजिक भूमिकाएं गढ़ी जा रही हैं वहां ये रियाज़कर्त्ता अपनी एक नई छवि बनाने की ज़िद में है। समाज में बने-बनाये ढांचों से ये उनकी एक निहत्थी बग़ावत है।

चित्र: जैकी फ्लेमिंग

संवाद

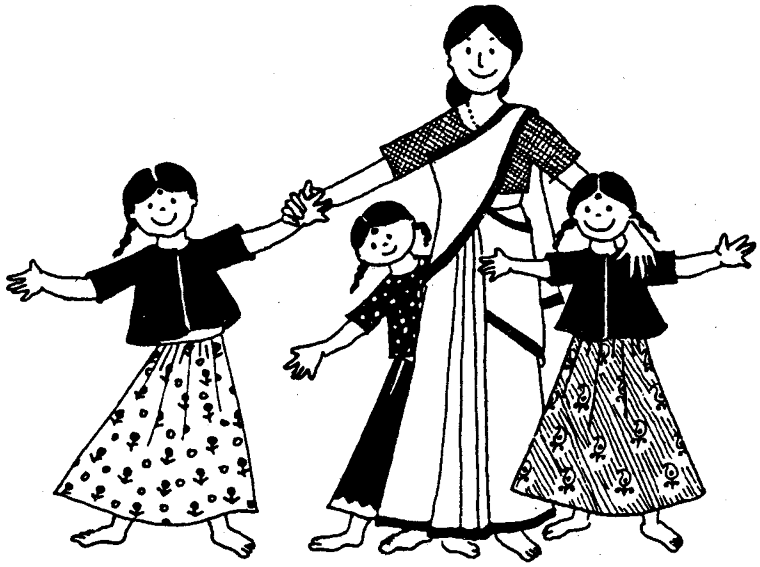

किशोरियों की सार्वजनिक सुरक्षा-ज़िम्मेदारी किसकी?

कल्पना विश्वनाथ

आजकल अखबार उठाते या टीवी के किसी भी चैनल का बटन दबाते ही हमें औरतों व लड़कियों के साथ किसी न किसी रूप में यौन हिंसा या फिर बलात्कार और हत्या के किस्से सुनने को मिलेंगे। इनमें से कुछ किस्से तो हिंसा और बदसलूकी की हद को भी पार कर जाते हैं। नॉयडा में एक जवान, कामकाजी युवती का बलात्कार, नव वर्ष पर मुंबई के होटल के बाहर एक लड़की के साथ यौन हिंसा या प्रेमी द्वारा युवती के मुंह पर तेज़ाब फेंक देने की वारदातें आजकल खबरों के रूप में पेश की जाती हैं।

पर इन सबसे परे एक ऐसा यौन शोषण या उत्पीड़न भी है जो हर उम्र/वर्ग की लड़की-औरत रोज़ाना के जीवन में झेलती है। इनमें छींटाकशी, घूरना, छिछोरे जुमले बोलना, सीटी बजाना, 'गलती' से छूना आदि शामिल हैं। इस तरह की हिंसा को आम तौर पर छोटी-मोटी घटना मानते हुए नज़रअंदाज़ करने की सलाह दी जाती है या फिर 'लड़के आखिर लड़के ही हैं' कहकर टाल दिया जाता है।

बचपन से ही किशोरियों को सिखाया जाता है कि वे चलने, बोलने, बैठने में सावधानी बरतें। बच्ची से युवती बनने के सफ़र में अनगिनत नियमों और बातों के साथ तालमेल बैठाना पड़ता है। हमें यह हिदायत दी जाती है कि हम शाम को जल्दी घर लौट आएं, अगर कोई हमें घूरता है तो नज़रे हटा लें और कुछ विशेष जगहों पर न जाएं। और धीरे धीरे हमें इन सभी हिदायतों की आदत पड़ जाती है। हम खुद-ब-खुद अपने ऊपर रोक-टोक लगाने लगते हैं। किसी को भी हमें कुछ समझाने-बताने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हम बगैर सोचे ही अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखने लगते हैं।

हमें अपने आप से यह पूछने की ज़रूरत है कि क्या यौन हिंसा से निपटने का यहीं मात्र साधन या सबसे बेहतरीन तरीका है। अक्सर हमें इन सभी बातों, रोकटोक में अन्याय या अपने साथ भेदभाव का आभास होता है। मैं जब चाहूं तब बाहर क्यों नहीं जा सकती, मुझे ही सावधानी बरतने की आवश्यकता क्यों है? ऐसे बंधन लड़कों और पुरुषों पर क्यों नहीं लगाए जाते? आखिरकार हमारी सड़कों और माहौल को असुरक्षित बनाने के पीछे वे ही तो ज़िम्मेदार हैं। कुछ ऐसे ही सवाल हमारे मन में उठते हैं। हमारे पास कोई भी आसान जवाब नहीं हैं। किस हद तक हम संभावित

ख़तरों के डर को अपनी आवाजाही और जीवन पर हावी होने दें? और क्या महज सुरक्षित रहने की कोशिश में हम उन तमाम मौकों को गंवा दें जो हमें बाहर मिल सकते हैं। यद्यपि इसका अभिप्राय यह हरगिज़ नहीं है कि हम ज़बर्दस्ती खतरे मोल लें। रात में अकेले बाहर जाना या सुनसान गलियों में भटकने में कोई वीरता नहीं है। पर घर पर बंद होकर बैठ जाना भी बेवकूफी होगी जबकि बाहर कदम निकालकर हम मौकों, पढ़ाई, काम और दोस्तों तक अपनी पहुंच बढ़ा सकते हैं।

एक किशोरी होने के नाते हमें अपने जीवन से जुड़े जानकारी युक्त फैसले लेने का आत्म विश्वास होने चाहिए। साथ ही दूसरों के अनुभवों से सीखकर, अखबार, पत्रिकाओं, टीवी से जानकारी अर्जित करके, हक़ों की समझ बनाकर निर्णय लेना उचित रहता है। जब भी हम पूरी जानकारी लेकर कोई फैसला लेते हैं तो उस पर अडिग रहने और उसे सही ठहराने में हम कामयाब होते हैं। आत्म-रक्षा के कुछ गुर सीखने से भी हमारे आत्म विश्वास को बल मिलता है। पर साथ ही ज़रूरी है कि हम सतर्क रहकर खतरें को पहचानने और उसका आभास करके में सक्षम रहें और बिना वजह गैर ज़रूरी जोखिम लेने से परहेज़ रखें।

कुछ इसी तरह के खतरों और उनके कारणों को समझने के प्रयास में जागोरी ने कुछ "सेफ्टी ऑडिट" या "सुरक्षा-जांच" की थी जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि किसी भी जगह का औरतों व लड़कियों के लिए सुरक्षित होना किन कारकों पर निर्भर करता है। इस सुरक्षा जांच का लक्ष्य यह था कि आम लोग भी अपने आसपास के रिहाईशी, पढ़ने, काम करने, मनोरंजन वाली जगहों की सुरक्षा को आंकने वाले कारणों पर गौर करें तथा यह भी परिभाषित कर सकें कि किन कारकों की मौजूदगी किसी जगह को असुरक्षित बनाती है तथा उसे सुरक्षित बनाने के लिए कौन से बदलाव लाना सार्वजनिक रूप से फायदेमंद रहेगा।

सुरक्षा जांच में एक बार फिर वही बातें दोहराई जो हम लड़कियों और किशोरियों ने बड़े शहरों में रहते हुए महसूस की हैं। भीड़ वाले बाज़ारों में यौन हिंसा बिल्कुल मौजूद न हो यह संभव नहीं है। काफी बार हमें पता भी नहीं चलता कि चुपचाप कौन हमारे साथ कोई अनुचित हरकत करके भीड़ में गायब हो गया। पर इस तरह के क्षेत्रों में आम राहगीरों और बाज़ार में मौजूद लोगों का रवैया और प्रतिक्रिया किसी भी हिंसा को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। रिहाइशी इलाकों के पास स्थित बगीचों और घूमने की अन्य जगहों को बच्चों और औरतों ज़्यादातर दिन में उपयोग करते हैं। इसके अलावा लड़कियों व औरतें उन बगीचों में ज़्यादा पाई जाती हैं जहां पहले से ही दूसरी औरतें मौजूद हों। वे बगीचे जो ज़्यादा सार्वजनिक जगहों पर स्थित हैं उनमें तुलनात्मक रूप से अधिक पुरुष पाए जाते हैं।

इस सुरक्षा जांच ने किसी सार्वजनिक जगह की सुरक्षा को प्रभावित करने वाले कारणों में से तीन बातों को महत्वपूर्ण बताया। सबसे पहली बात है, ढांचा जिसमें रोशनी, पारपथों और गलियों की ढाचांगत हालत, पेड़ों की छंटाई, अंधेरी गलियों और नुक्कड़ों की मौजूदगी शामिल हैं। दूसरे कारण में पुलिस बूथ, टेलिफोन बूथ, दुकानों, ठेलों और पटरी वालों की मौजूदगी सुरक्षा के लिहाज़ से महत्वपूर्ण मानी गई। और तीसरी अहम बात है आम लोगों के बीच किसी कमजोर समूह या लड़कियों की सुरक्षा को लेकर प्रतिक्रिया, समझ और नज़रिया।

बगीचे के उपयोग में फिर चाहे वह रिहाइशी इलाके में हो या सार्वजनिक जगह पर, रोशनी और बिजली की उचित सुविधा अहम भूमिका अदा करती है। उदाहरण के तौर पर रात के समय हमने पाया कि जिस बगीचे में अच्छी रोशनी थी वहां ज़्यादा लोग थे, जबकि दूसरा बगीचा जहां रोशनी का अभाव था, सुनसान था। इसी तरह पैदल पारपथों को रात के समय और कभी-कभी दिन के समय भी इस्तेमाल करने से लड़कियां कतराती हैं क्योंकि उनके निकास और मुख्य द्वारों पर रोशनी की कमी होती है और अंधेरा होने के कारण ये जगहें असुरक्षित पाई गई हैं। पर अगर इन पैदल पारपथों में पटरी पर सामान बेचने वाले या दुकानें हो और वहां अधिक लोगों का आना-जाना रहे तब ये जगह सुरक्षित

रहती हैं। कुछ पारपथों में जहां बिक्री करने वाले लोग नहीं होते वे जगहें औरतों व लड़कियों को दिन में भी असुरक्षित लगती हैं।

पर शायद सबसे अधिक ज़रूरी कारण है यौन हिंसा और लड़कियों के अधिकारों के हनन को लेकर आम समाज का रवैया जिससे किसी जगह को सुरक्षित या असुरक्षित करार दिया जाता है। मसलन, किसी लड़की के छेड़े जाने या उस के साथ बदतमीजी करने पर अगर राहगीर और आस-पास खड़े लोग शोर मचाएं या विरोध जताएं तो हिंसा करने वाला नौ दो ग्यारह हो जाता है। चूंकि अक्सर आम लोग यौन हिंसा की घटना को देखकर चुप्पी साध लेते हैं या उससे कन्नी काट जाते हैं तभी हिंसा करने वाले की हिम्मत बढ़ जाती है। उसे लगता है कि वह कुछ भी करके छूट ही जाएगा और उस पर रोक लगाने वाला कोई नहीं है। यही एक मुख्य वजह है जिसके कारण यौन हिंसा और अधिकारों का हनन लड़कियों को झेलना पड़ता है। इसलिए यह ज़रूरी है कि हमारे शहर में हम सभी नागरिक एक साथ मिलकर हिंसा की मौजूदगी और उसे बंद करने की ज़िम्मेदारी को स्वीकार करें तथा अपने शहर में लड़कियों के लिए एक सुरक्षित और ज़िम्मेदार माहौल बनाने में अपना योगदान दें।

चित्र: जैकी फ्लेमिंग

लेख

भारत में बाल अधिकार और किशोर

रमाकान्त राय

बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र की घोषणा के अनुसार बच्चों के चार अधिकार सुनिश्चित किए गए हैं-

- ज़िन्दा रहने का अधिकार
- विकास का अधिकार
- सुरक्षा का अधिकार
- भागीदारी का अधिकार

यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत में बच्चों (बालक/बालिकाओं) की अधिकारिक उम्र की परिभाषा अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग तय की गई है। बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र में बच्चों की उम्र की परिभाषा 0 से 18 वर्ष तय की गई है। भारत ने यह उम्र सीमा 14 वर्ष तक मानी है। किशोर न्याय (सुरक्षा एवं देखरेख) अधिनियम, 2000 में यह उम्र 18 वर्ष, बाल श्रम (निषेध एवं नियमन) अधिनियम, 1986 में 14 वर्ष तथा खदानों में काम करने के लिए बने नियम में 15 वर्ष, बाल विवाह निषेध अधिनियम में बालकों के लिए 21 वर्ष तथा बालिकाओं के लिए 18 वर्ष की उम्र निर्धारित की गई है। भारत में नागरिकता प्राप्त करने की उम्र, वोट देने की उम्र 18 वर्ष निर्धारित की गई है। यानी कि ज़्यादातर कानूनों में 18 वर्ष से कम की उम्र के व्यक्ति को बच्चा माना गया है। यह अफ़सोस की बात है कि बच्चों को अधिकार दिलाने वाले अधिनियमों में जहां उन्हें बाल श्रम के शोषण से बचाया जा सकता है वही उनकी उम्र को संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र में कम करके 14 वर्ष कर दिया गया है।

अभी गत 16 दिसम्बर 2008 को राज्य सभा में पारित शिक्षा के मौलिक अधिकार के लिए बिल *दी राइट ऑफ़ चिल्ड्रेन फ़ॉर फ्री एण्ड कम्पल्सरी एजूकेशन बिल 2008* में मात्र 6 से 14 वर्ष की उम्र के लोगों को बच्चा माना गया है। यानी 6 से कम और 14 से अधिक उम्र के लोग बच्चे नहीं माने गए हैं और अब उनके लिए बुनियादी शिक्षा मौलिक अधिकार नहीं रह गया है। इस भेदभाव एवं उदासीन इच्छा शक्ति का परिणाम है भारत में बाल अधिकारों का हनन, अशिक्षा, गरीबी तथा बाल मज़दूरी का घिनौना स्वरूप।

यह विडम्बना है कि भारत में बाल श्रम, बंधुआ मज़दूरी, जबरन मज़दूरी, बाल शोषण तथा बाल व्यापार को रोकने के लिए दर्जन भर अन्तर्राष्ट्रीय घोषणाएं एवं संवैधानिक प्रावधान तथा कानून रहते हुए भी दुनिया में सबसे अधिक बाल मज़दूर भारत में ही हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार 5,79,841 बच्चे (5 वर्ष से कम उम्र के) घरेलू कामकाज में कार्यरत हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार 1.30 करोड़ बच्चे 5-14 आयु वर्ग में बाल श्रम कर रहे हैं। राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे संगठन (2004-2005) के अनुसार भारत में लगभग 86 लाख बाल मज़दूर हैं।

यह एक कड़वा सच है कि 2001 की जनगणना के अनुसार 8.50 करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर हैं। यदि इनमें से 1.30 करोड़ बाल मज़दूरों को निकाल दिया जाय तो 7.20 करोड़ बच्चे न स्कूल में हैं और न बाल मज़दूर के रूप में चिन्हित हैं। तो फिर ये बच्चे आखिर हैं कहां? निश्चित रूप से ये बच्चे सकुशल नहीं हैं जिससे उनका कोई लेखा-जोखा नहीं है। सम्भव है पोर्नोग्राफी (अश्लील फिल्म निर्माण) उद्योग, शरीर के अंगों की तस्करी, यौन शोषण या घरेलू बाल मज़दूरी के लिए उनका निर्यात हो चुका है या ऐसे ही किसी घिनौने धन्धे के लिए उनकी बिक्री की जा चुकी है। यह स्थिति तब है जब बच्चों की उम्र मात्र 14 वर्ष तक मानी गई है। यदि इसमें 18 वर्ष तक की उम्र के बच्चों को भी शामिल कर लिया जाये तो स्थिति बद से बदतर हो जायेगी।

किशोर-किशोरियों की स्थिति

2001 की राष्ट्रीय जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 22 प्रतिशत हिस्सा किशोर बच्चों का है यानी कि 22 करोड़ 50 लाख। इस संख्या में लगभग 47 प्रतिशत बालिकाएं तथा 53 प्रतिशत बालक हैं। यह विषमता दर्शाती है कि 3 प्रतिशत आबादी लैंगिक भेदभाव की शिकार है। यह बाल अधिकार हनन है। किशोर बच्चों की आबादी का हर तीसरा हिस्सा लड़का/लड़की बाल मज़दूर के रूप में कार्यरत है। सन् 2001 के आंकड़ों के अनुसार इनमें से 21 प्रतिशत मुख्य कामगार तथा 12 प्रतिशत सीमान्त कामगार हैं।

किशोर बच्चों की स्थिति सबसे दयनीय है। सवाल यह नहीं है कि कितने बच्चे किशोर उम्र में बाल मज़दूर हैं मगर यह स्पष्ट है कि दुनिया में सबसे अधिक बच्चे भारत में बाल मज़दूर के रूप में कालीन, कृषि कार्य, ईंट भट्ठे, खान, खदान, हैण्डलूम, ज़री व चमड़े के काम के अलावा होटल, ढाबा, रेस्टोरेन्ट में घरेलू मज़दूरी करते हैं। इतना ही नहीं भारत में लगभग 3 से पांच लाख लड़कियां बाल यौनकर्मियों की ज़िन्दगी जी रही हैं।

राहुल बेदी- *(लंदन डेली टेलीग्राफ़-23 अगस्त 1997)* के अनुसार ये किशोर लड़के-लड़कियां न सिर्फ़ शिक्षा से वंचित हैं बल्कि बाल अधिकार के रूप में घोषित संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र, संवैधानिक अधिकार तथा सार्क घोषणापत्र में लिखित अधिकारों से भी महरुम हैं। इन किशोरों के स्वास्थ्य विकास तथा प्रगति के सारे रास्ते बन्द हो रहे हैं। अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि गरीबी ही इनकी बाल मज़दूरी या शोषण का कारण है। आंकड़े बताते हैं कि भारत से ज़्यादा गरीब देशों में बाल मज़दूर और शोषण के ख़िलाफ़ प्रबल इच्छा शक्ति दिखलाकर बच्चों को विकास की मुख्यधारा में शामिल किया जा सका है। पर इस इच्छा

क्या होना चाहिए?

यह आवश्यक है कि भारत के किशोर बच्चों को बाल शोषण से बचाने के लिए निम्न उपाय किए जाएं।

1. बाल शोषण का सबसे कारगर उपाय होगा कि शिक्षा के लिए संवैधानिक संशोधन *दी राइट ऑफ़ चिल्ड्रेन फ़ॉर फ्री एण्ड कम्पल्सरी एजूकेशन बिल 2008* में बच्चों की परिभाषा 0 से 18 वर्ष तक घोषित की जाए। सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से स्कूलों में शिक्षा दी जाए तथा उनके स्वास्थ्य की देखरेख की ज़िम्मेदारी सरकार की हो।
2. बाल मज़दूरी (निषेध एवं नियमन) अधिनियम, 1986 में संशोधन किया जाए और बच्चों के लिए खतरनाक और गैर खतरनाक सभी कार्यों में बाल मज़दूरी पर प्रतिबंध लागू किया जाए।
3. बंधुआ श्रम निषेध अधिनियम, 1976 को सख्ती से लागू किया जाए।
4. बाल व्यापार के लिए (चाइल्ड ट्रैफ़िकिंग) संशोधित कानून शीघ्र लागू किया जाए।
5. बाल मज़दूरी, बाल शोषण तथा बाल व्यापार के लिए सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय 1996 को कानून बनाकर लागू किया जाए।
6. बाल विवाह, बाल हिंसा, बाल जन्म एवं मृत्यु पंजीकरण तथा बाल शोषण के ख़िलाफ़ कानूनों को समुदाय स्तर पर लागू किया जाए।
7. बाल शोषणकर्ताओं को शीघ्र कड़ी सज़ा तथा शोषित बच्चों के पुनर्वास की व्यवस्था की जाए।
8. मुक्त बाल मज़दूरों, बाल शोषण से पीड़ित बच्चों को शीघ्र न्याय दिलाने तथा उनके पुनर्वास में स्वयंसेवी संस्थाओं और समाज की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जाए।
9. बाल अधिकार के लिए घोषित संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र, सार्क घोषणापत्र तथा संवैधानिक प्रावधानों का पालन किया जाए।

शक्ति के अभाव के चलते भारत में सबसे अधिक बच्चे बाल शोषण के शिकार हैं।

बाल मज़दूरी व बाल शोषण के ख़िलाफ़ आप क्या कर सकते हैं?

सबसे पहले पुलिस को सूचना देकर बुलाएं- पुलिस *जुवेनाइल जस्टिस एक्ट 2000* के तहत मालिक के ख़िलाफ़ धारा 26 तथा 23 के तहत तुरन्त कार्यवाही करेगी। इन धाराओं में किसी बच्चे अथवा किशोर को किसी भी खतरनाक धंधे में नौकर अथवा बंधक रखा हो, या उसकी मज़दूरी नहीं दी हो, जिसमें बाल शोषण कार्य में सज़ा का प्रावधान है दोनों ही अधिनियमों *(बंधुआ मज़दूरी उन्मूलन अधिनियम तथा जुविनाइल (किशोर) न्याय अधिनियम 2000)* के अन्तर्गत यह अपराध जांच योग्य है। दूसरा मतलब है कि पुलिस को दोनों ही मामलों का केस दर्ज करना होगा।

श्रम विभाग को बुलाएं- श्रम विभाग बाल मज़दूर को मालिक पर *बाल श्रम प्रतिशोध और विनियमन अधिनियम 1986* के कार्यवाही करते हुए उन पर न्यूनतम 10 हज़ार तथा अधिकतम 20 हज़ार का ज़ुर्माना कर सकता है तथा अधिकतम तीन महीने तक की सज़ा हो सकती है। दोनों ही विभागों द्वारा न्यायाधीश के आदेश पर बाल श्रमिकों को मुक्त कराया जा सकता है।

सबसे अच्छा विकल्प/तरीका- *बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम 1976* के तहत जिलाधिकारी/उप दंडाधिकारी/एस.डी.एम. के सामने शिकायत कर सकते हैं। बंधुआ बच्चे के बारे में निम्न जानकारी ज़रूरी है (1) काम के बदले में अग्रिम धनराशि माता-पिता या बच्चे को दी गई हो। (2) उसको न्यूनतम मज़दूरी नहीं दी जा रही हो (3) कार्य के तरीके और समय अगर ठीक नहीं हो।

इस आधार पर *बंधुआ मज़दूरी उन्मूलन अधिनियम 1976* के तहत बच्चे को मुक्त कराकर उसका कानूनी तौर पर पुनर्वास करा सकते हैं। इस अधिनियम के तहत पुनर्वास कार्यक्रमों के लिए डी.एम./एस.डी.एम. द्वारा तत्काल सहायता के रूप में मुक्ति के पश्चात 1 हज़ार रुपये तथा साथ ही मुक्ति प्रमाणपत्र भी दिया जाता है। यह मुक्ति प्रमाण पत्र मुक्त बाल बंधुआ मज़दूर के पुनर्वास के लिए 20 हज़ार रुपये प्राप्त करने के लिए अधिकृत करता है। मुक्त बंधुआ बाल मज़दूर को 400 रुपये सामाजिक सुरक्षा पेंशन के रूप में आजीवन मिलेगा। साथ ही साथ मुक्त बाल बंधुआ के परिवार को सरकार द्वारा संचालित ग्रामीण विकास योजनाओं का फायदा प्राथमिकता के तौर पर मिल सकता है।

सरकार द्वारा निश्चित रूप से इन सभी कानूनों का एक साथ क्रियान्वयन किया जाना चाहिए। शोषित बच्चे को बंधुआ मज़दूरी उन्मूलन के तहत मुक्त कराया जाए तथा मालिक नियोक्ता पर *बाल श्रम प्रतिषेध अधिनियम 1986* के तहत जुर्माना किया जाए और मुक्ति के बाद बच्चे को बाल गृह में रखा जाना चाहिए, जैसा कि *किशोर न्याय अधिनियम 2000* में दर्ज है।

मुक्त हुए बाल बंधुआ मज़दूरों को *सामाजिक सुरक्षा कोशांग* द्वारा 20 हज़ार रुपये की पुनर्वास राशि के रूप में *बंधुआ मजदूर अधिनियम 1976* के तहत मिलते हैं।

बाल शोषण के मामले में उम्र कोई बंधन नहीं होता है, *जुविनाइल जस्टिस एक्ट* की धारा 26 उन सभी बच्चों पर लागू होती है जो 18 वर्ष से कम हैं। पुलिस से जानना ज़रूरी है कि उम्र का आंकलन किस प्रकार किया गया। किसी बच्चे के डील डौल से उसकी उम्र का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। उम्र का प्रमाणपत्र उपलब्ध न होने पर पुलिस द्वारा बच्चे का आयु परीक्षण सरकारी चिकित्सक द्वारा कराया जाना चाहिए।

बाल श्रमिक के पुनर्वास की प्रक्रिया

बाल श्रमिक को मुक्त करने के तुरंत पश्चात, (अगर वह *बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम 1976* के अन्तर्गत किया गया है) मुक्ति प्रमाणपत्र जिलाधिकारी/एस.डी.एम. द्वारा जारी किया जाएगा, जिसके द्वारा अंतरिम सहायता के रूप में एक हज़ार रुपए शोषित को दिए जाएंगे। मुक्ति प्रमाणपत्र द्वारा पीड़ित 20 हज़ार रुपए पुनर्वास पैकेज प्राप्त करने का अधिकारी होता है तथा साथ ही साथ सामाजिक सुरक्षा और ग्रामीण एवं गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रम की योजनाओं का लाभार्थी भी होगा।

उप जिलाधिकारी द्वारा संबंधित राज्य के रेजीडेन्ट कमिश्नर अथवा मुख्य सचिव को भी लिखा जा सकता है,

कि बच्चे को सुरक्षित तरीके से परिवार तक पहुंचाने की व्यवस्था करें।

बच्चे को मुक्त कराने के बाद जब तक पूछताछ की प्रक्रिया चल रही है, तब तक उसकी किसी आश्रय गृह/बालगृह में देखभाल तथा सुरक्षा की व्यवस्था की जाए। बच्चे का पुनर्वास तथा उसको समाज की मुख्यधारा से जोड़ने का कार्य बच्चे के आश्रयगृह या बालगृह में रखने से ही प्रारम्भ हो जाएगा। यद्यपि बच्चा अपनी 18 वर्ष की उम्र तक किसी बालगृह में रह सकता है या जब तक उसे उचित पुनर्वास न प्राप्त हो जाए। मगर बच्चे को किसी संस्था संचालित गृह में तीन वर्ष से अधिक भी नहीं रखा जा सकता है। बाल श्रमिकों के लिए प्रत्येक ज़िले में राष्ट्रीय बाल श्रम परियोजना के अन्तर्गत विशेष विद्यालय चलाए जा रहे हैं। ऐसे बच्चों का दाखिला इन विद्यालयों में करवाकर उन्हें मुख्यधारा से जोड़ा जा सकता है।

बाल मज़दूरी कानूनी जुर्म है

भारतीय दंड संहिता की धारा 374 के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति जो किसी दूसरे व्यक्ति को उसकी इच्छा के विपरीत काम करने पर मजबूर करता है, को एक साल की सज़ा या जुर्माना अथवा दोनों का प्रावधान है।

बाल मज़दूरी अधिनियम 1986 के अन्तर्गत 14 साल से कम उम्र के बच्चों का फैक्ट्रियों, कारखानों, खदानों एवं अन्य खतरनाक उद्योगों (जिसमें अब घरेलू काम, चाय, ढाबा, रेस्टोरेन्ट आदि शामिल हैं) में काम करवाना कानूनी जुर्म है।

जुविनाइल जस्टिस (केयर एण्ड प्रोटेक्शन) एक्ट 2000 के अन्तर्गत कोई व्यक्ति जो किसी बच्चे से खतरनाक काम करवाता है, बंधुआ बनाकर रखता है, बच्चों को अपने काम के लिए उपयोग करता है, उसके लिए तीन साल तक की बामशक्कत कैद व जुर्माने का प्रावधान है।

बंधुआ मज़दूरी उन्मूलन अधिनियम 1976 के अन्तर्गत बाल मज़दूरी सहित किसी भी तरह की जबरन मज़दूरी दंडनीय अपराध है।

बाल श्रम के ख़िलाफ़ सुप्रीम कोर्ट के निर्देशः

1996 में सुप्रीम कोर्ट ने बच्चों के खतरनाक उद्योगों में काम करवाने से मुक्ति व पुनर्वास संबंधी कुछ निर्देश दिए थे जो कि इस प्रकार हैं-

- खतरनाक उद्योगों से बच्चों की मुक्ति एवं उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था
- मालिक पर 20 हज़ार रुपये प्रति बच्चे का जुर्माना
- मुक्त बच्चे के स्थान पर उसी के घर के किसी वयस्क को रोज़गार, और ऐसा न होने की स्थिति में राज्य सरकार द्वारा बच्चे को 5 हज़ार रुपये की सहायता
- इस तरह मुक्त कराए गए बच्चे के परिवार को 25 हज़ार रुपये की सहायता व उसका स्कूल में दाखिला

खास बात यह है कि हाल ही में जारी शासकीय अधिसूचना के तहत कोई व्यक्ति 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चे से घर, होटल, ढाबे, टी स्टाल आदि में मज़दूरी करवाता है तो उसे अपराधी मानकर उसके ख़िलाफ़ कानूनी कार्यवाही की जाएगी। इसका यह भी अर्थ है कि सरकार यह सुनिश्चित करे कि बाल मज़दूरों की मुक्ति के साथ-साथ उनका उचित पुनर्वास भी हो।

संवाद

यौनिकता और किशोरावस्था-कुछ सवाल

शालिनी सिंह

आज जब मैं यौनिकता के मुद्दे पर सोचती हूं और बात करती हूं तो लगता है कि किसी के स्वस्थ आनंद और सुरक्षित जीवन के लिए यौनिकता पर जानकारी होना कितना महत्वपूर्ण है। आज मुझे जितनी जानकारी है उसके मुकाबले अपने किशोरावस्था में एक प्रतिशत भी जानकारी नहीं थी। जानकारी न होने के कारण मैं और मेरी सहेलियों ने कितनी ही बेवकूफी भरी बातें सोची और कीं। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है मेरी एक सहेली ने शादी से पहले ही कुछ दवाएं लेनी शुरू कर दी थीं क्योंकि उसे लगा कि शादी होते ही वह गर्भवती हो जाएगी। और उसे ये जानकारी भी हम जैसे बुद्धिमानों ने ही दी थी। उस दवा की वजह से उसकी तबियत काफी खराब हुई और उसे बहुत समस्याओं का सामना करना पड़ा।

यदि अपने आसपास देखूं तो यौनिकता के नाम पर आज भी कोई सूचना सही रूप से शायद ही युवा वर्ग को दी जाती है। शहरों में, गांवों में हर जगह ज़्यादा सूचनाएं घर के बाहर ही मिलती हैं। घर में ज़्यादातर रोक-टोक व मनाहियों पर बात की जाती है, वह भी सीधे शब्दों में नहीं बल्कि घुमा-फिराकर। जिस लड़की को माता-पिता दिन रात सुरक्षा व हिफ़ाज़त का पाठ पढ़ाते हैं उसी को अचानक शादी करके एक अनजान लड़के के साथ भेज देते हैं। ऐसा करने में उन्हें ज़रा भी संकोच या चिंता नहीं होती बल्कि तसल्ली का अहसास होता है।

विद्यालयों व संस्थानों में भी यौनिकता के नाम पर शरीर के विकास, मासिक धर्म और परिवार नियोजन से संबंधित बातें ही बताई जाती हैं। मां भी अपनी लड़कियों को मासिक धर्म और उससे जुड़ी स्वास्थ्य और सफाई की बातों को बताकर सोचती है कि बेटी की यौनिकता पर शिक्षा पूरी हो गई है। यौनिकता संबंधी बाकी बातें सभी अपने आप सीख जाते हैं, ये विश्वास आज भी हमारे अंदर है। लड़कों को तो कुछ भी बताने की ज़रूरत नहीं समझी जाती क्योंकि माना जाता है कि वे बाहर की दुनिया से सारी जानकारी खुद हासिल कर लेते हैं। फिर उनको गर्भ ठहरने का खतरा नहीं होता और इसलिए लड़कियों की तुलना में उनकी सुरक्षा की चिंता कम रहती है।

सूचना कब और कितनी देनी है ये भी माता-पिता या शिक्षक ही तय करते हैं। परिवर्तित व आधुनिक विचारधारा के लोग भी यही मानते हैं कि सीमित जानकारी काफी है। यौनिक जीवन या यौनिक क्रियाओं की जानकारी देने की कोई खास आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसे हासिल करके युवा इसका प्रयोग करने की कोशिश कर सकते हैं। परिणाम यह होता है कि लड़के और लड़कियां यौनिकता संबंधी मुद्दों पर इंटरनेट, पत्रिका व टी.वी. से जानकारी लेते हैं। दोस्तों-सहेलियों के साथ चर्चा भी करते हैं परन्तु अधिकांश समय इस भावना से ग्रस्त होते हैं कि वे कुछ गलत कर रहे हैं। सही जानकारी कहां से मिले उनके लिए यह जानना मुश्किल होता है। धर्म और नैतिकता का डर भी उनके मन में भरा होता है जिससे यौनिकता से जुड़ी हर बात अनैतिक व गलत लगती है। इन सभी बातों से यौनिकता व शरीर के बीच में ऐसा नकारात्मक संबंध बन जाता है जिससे यौनिक क्रियाओं से अनैतिकता के भाव को मन से निकालना अनेक लोगों के लिए उम्र भर नामुमकिन हो जाता है।

यौनिकता पर बातचीत के दौरान अनेक लोगों ने मुझसे कहा है कि उन्होंने कभी भी अपने ही शरीर को पूरी तरह नहीं देखा है। एक महिला जो अब दादी बन गई है ने बताया कि 50 वर्ष की उम्र होने पर भी उन्होंने अपने शरीर को पूरा नहीं देखा। स्वास्थ्य से जुड़ी कितनी समस्याएं हो जाती हैं और डॉक्टर के पास जाना तो दूर हम अपने परिवार में भी बात नहीं करते। डॉक्टर को बताने में शर्मिन्दगी होती है, सवालों से डर लगता है। डॉक्टर भी कम उम्र या अविवाहित महिलाओं व लड़कियों की शारीरिक जांच से खुद को रोकते हैं क्योंकि वे भी इसमें हिचकिचाहट महसूस करते हैं।

छठी-सातवीं कक्षा की लड़कियों से बात की तो लगभग सभी ने बताया कि गर्भधारण शादी के बाद ही हो सकता है। हालांकि ये जानकारी सही नहीं है पर फिर भी उन्हें कभी कोई ये नहीं बताएगा कि गर्भ ठहरने के लिए शादी नहीं बल्कि कुछ यौनिक क्रियाएं या कुछ विशेष शारीरिक प्रजनन अंगों की आवश्यकता होती है। शादी के बाद ही कोई बच्चा पैदा कर सकता है ये बहुतों के लिए आज भी सच है। उनके लिए ये सोचना मुश्किल है कि शादी के बाद भी बच्चा होना या न होना उन दो व्यक्तियों पर निर्भर है जिन्होंने शादी की है या शादी के बिना भी किसी को यौनिक संबंध बनाने से गर्भ ठहर सकता है। यह स्थिति जानकारी के अभाव के ही कारण है।

1994 में आयोजित जनसंख्या व विकास विषय पर हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में किशोरावस्था व यौनिक जानकारी की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया था। आज भारत में भी यौनिकता पर चर्चा शुरू हो गई है क्योंकि एच.आई. वी. पर बातचीत करना अतिआवश्यक हो गया है। पिछले कुछ सालों तक जब घर में व आपस के घनिष्ठ संबंधों में भी जो बातें कहनी मुश्किल थी वो बातें आजकल प्रायः राजनेता, नीति निर्धारक व विशिष्ट व्यक्ति कहने लगे हैं। परन्तु इनके लिए भी यौनिकता पर बात करना सिर्फ़ परिवार नियोजन या एड्स पर बात करने तक सीमित है। परामर्शदाता परिवार नियोजन या बच्चों के जन्म व एड्स से बचाव जैसे मुद्दे पर बात करके तसल्ली कर लेते हैं कि यौनिकता के मुद्दे पर बात हो गई है।

मैं पिछले कई सालों से महिलाओं से जुड़े मुद्दे और यौनिकता पर कार्य कर रही हूं। प्रशिक्षण करते वक्त पता नहीं कितने लोगों से कितनी बार यौनिकता पर चर्चा की है पर मेरे लिए भी घर में अपनी बेटी से बात करना हमेशा मुश्किल होता है। उसे जानकारी देने की कोशिश करती हूं पर महसूस होता है कि काफ़ी बातें उसे पहले से ही पता हैं। पर यह जानकारी उसे कहां से मिली और कितनी सही है यह तय करना मुश्किल होता है। इसके अलावा शब्दों की कमी होने लगती है और वाक्य आगे पीछे होने लगते हैं। अनेक शब्द जो मैं बोलती हूं मुझे लगता है मैंने अब बोलना सीखा है। मुझे एहसास होता है कि बच्चों को तो ये शब्द पता ही नहीं है। उन्हें तो हम सीमित शब्द देते हैं जो अधिकांशत शरीर के अंगों से जुड़े होते हैं वो भी छुपे व अस्पष्ट। बिना स्पष्ट शब्दों के बात कैसे की जा सकती है?

मेरी दूसरी कश्मकश शुरू होती है कि कितनी जानकारी दी जाए। क्या पूरी जानकारी के लिए ये उम्र सही है? कई बार तो लगता है कि किशोरावस्था में कण्डोम व यौनिक संबंधों के बारे में बताने की कोई आवश्यकता नहीं होती। पर क्या यह सोच सही है?

एक और विडम्बना यह है कि सूचना देने के लिए उम्र कैसे तय करें? हकीकत में सूचना तो उपलब्ध है और पाने वाले उसे हासिल भी कर रहे हैं। जब एक प्रशिक्षण के दौरान ये चर्चा चली की स्कूलों में कण्डोम का वितरण होना चाहिए या नहीं तो पूरा समूह दो स्पष्ट भाग में विभाजित हो गया। एक ने कहा कि कण्डोम की सूचना तो देनी चाहिए पर उपलब्ध नहीं कराना चाहिए। उस उम्र के बच्चों को इसका क्या काम? दूसरों का ये कहना था कि कण्डोम के बारे में बताने की भी क्या ज़रूरत? बात फिर वहीं आती है कि क्या हम उम्र व यौनिक जीवन के बीच कोई संबंध देखते हैं? या यौनिक जीवन का संबंध सिर्फ़ विवाह से ही जोड़ते हैं। 16 साल की उम्र की लड़की का विवाह हो जाए व उसका यौनिक संबंध उसके पति के साथ स्थापित हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं परन्तु 25 साल की अविवाहित लड़की यौनिक संबंधों को लेकर सोचे भी तो हमें आपत्ति होती है।

स्कूलों में हो रहे यौनिक संबंधों की घटनाएं, किशोरावस्था में अनचाहे गर्भ जैसी समस्याएं जब हमारे सामने आती हैं तब हम ये सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि यौनिकता की जानकारी देना ज़रूरी है। हमारे अंदर कहीं ना कहीं यह भी डर है कि किशोर वर्ग इतना ज़िम्मेदार नहीं कि वो सही निर्णय ले या फिर निर्णय के परिणाम को स्वीकार कर पाएं। घटनाएं और उदाहरण हमारे सामने हैं पर हम उन्हें देखना नहीं चाहते। हम किशोर-किशोरियों के अधिकार की बात तो कर रहे हैं पर उनको ज़िम्मेदार समझने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें भी तो ऐसा वातावरण या स्थान मिलना चाहिए जहां वो खुद निर्णय लें व ज़िम्मेदारी दिखाएं। उन्हें भी ये सोचना होगा कि वे अपने लिए क्या चाहते हैं? सवाल यह भी है कि क्या हम उन्हें एक यौनिक प्राणी मानने को तैयार है? सिर्फ़ शरीर की जानकारी नहीं बल्कि यौनिकता पर किसी की सोच, अपने शरीर के प्रति सोच, व सामाजिक व राजनैतिक वातावरण का भी असर होता है। मन का एक हिस्सा ये कहता है कि अच्छा होगा कि किशोर वर्ग के पास सारी जानकारी उपलब्ध हो और वो उसके अनुसार निर्णय लें पर मन का एक भाग अभी भी दुविधा में है। हर व्यक्ति की अपनी चाह, अपनी आवश्यकता व अपनी सोच होती है, फिर हम सबके लिए एक से मानक तय कैसे करें?

चित्रः जैकी फिलींग

भामती की बेटियां

अनामिका

लिखने की मेज वही है,
वही आसन,
पांडुलिपि वही, वही बासन
जिसमें मैं रखती थी खील-बताशा
दीया-बत्ती की वेला हर शाम!
कभी-कभी बेला और चम्पा भी
रख आती थी जाकर चुपचाप
खील-बताशा-पानी-दीया के साथ!

पूरे इक्कीस बरस बस यही जीवन-क्रम —
कुछ देर इन्हें देखती काम में लीन,
जैसे कि देखते हैं सुन्दर मूरत शिवजी की,
पत्थर की मूरत ही बने रहे ये पूरे इक्कीस साल!
फिर एक शाम एक आंधी-सी आयी,
बिखरने लगे ग्रंथ के पन्ने,
टूटी तन्द्रा तो मुझे देखा
पन्नों के पीछे यों भागते हुए जैसे हिरनों के,
चौंके : 'हे देवि
परिचय तो दें
आप कौन ?'
मुझको हंसी आ गई —
'लाए थे जब ब्याहकर तो छोटी थी न,
फिर आप लिखने में ऐसे लगे,
दुनिया की सुध बिसर गई,
लगता है जैसे भूल ही गये-

वेदान्त के भाष्य के ही समानान्तर
इस घर में बढ़ी जा रही है
पत्ती-पत्ती
आपकी भार्या भी!
तो क्या मैं इतनी बड़ी हो गयी
कि पहचान में ही नहीं आती ?
पानी-पानी होकर
इस बात पर
पानी में ही
बहा आये
आप तो
अपनी वह पांडुलिपि,
जो मैं नहीं दौड़ती पीछे —
पृष्ठ बीछ ले आने पानी से,
गडमड हो चुकते सब अक्षर,
घुल जाती पानी में स्याही,
शब्द पर शब्द फिसल आते।
मेहनत से मैंने वे अक्षर भी बीछे,
जैसे कि चावल,
अक्षर पर अक्षर दुबारा उगाये
अपने सिन्दूर और काजल से,
भूर्जपत्र फिर से सिले —
ताग-पात ढोलना लगाके!
अक्षर पर अक्षर
अक्षर पर अक्षर,
अक्षर मैं
और आप अक्षर,
टप-टप-टप-टप
ये लो,
रोते हैं क्या ज्ञानी ध्यानी यों ?
क्यों रो रहे हैं जी...
चुप-चुप...?
" 'भामती टीका' तुम्हारी यह —

तुमने ही लिखी यह दुबारा
पहले भी तुमने लिखी थी –
हर शाम दीये की लौ से
जो लिखा था तुमने
अंधियारे की स्लेट पर –
मैंने बस भाष्य किया उसका....
तो जगत में ग्रन्थ 'भामती टीका' के ही नाम से
जाना जाएगा!

लिखने की मेज़ वही है, वही आसन
पांडुलिपि वही, वही बासन...
ग्रंथ लिख रही हैं पर
भामती की बेटियां!'
आपके जाने के बाद
मैंने पढ़ाया इन्हें
पाठशाला भेजकर!
दीये से नहीं, नहीं छाया से
इन्होंने अपनी कलम से लिखा है जो
आपके समानान्तर –
भाष्य उसका
करने बैठेंगे जब
सारे ये दिग्दिगान्तर,
मैं चैन की सांस लूंगी –
कृपा नहीं, प्रेम का प्रसाद भी नहीं लेंगी,
भामती की बेटियां
ग्रंथ अपने स्वयं ही रचेंगी?
लगातार
इसी तरह
हर युग में!

भारत की 'चक-दे' किशोरियां

मृणाल पांडे

क्या आप सोचते हैं कि भारतीय लड़कियां खेल-कूद में ज़्यादा रुचि नहीं रखतीं या अगर रखतीं भी हों तो टेनिस, हॉकी या बास्किट बॉल जैसे जाने-समझे खेल खेलती हैं? या अगर आपको ऐसा लगता है कि इनमें से अधिकांश लड़कियां बड़े शहरों के मध्यमवर्गीय परिवारों और प्रमुख समुदायों से आती हैं, तो आप चौंकने वाले हैं। मैं आपको मिलवा रही हूं आलिया से, जो हरियाणा की चैम्पियन मुक्केबाज़ है व फरीदाबाद के बंसी विद्या निकेतन की कक्षा ग्यारह की छात्रा है। हरियाणा जैसे पुरुष-केंद्रित, पारम्परिक और लड़कियों को लेकर संकुचित विचारधारा वाले राज्य की इस लड़की आलिया ने पिछले माह, पंचकुला में आयोजित, *हरियाणा महिला उत्सव* में मुक्केबाज़ी के लिए स्वर्ण पदक जीता है। वह एक लगनशील खिलाड़ी है जिसने इससे पहले भिवानी व कुरुक्षेत्र में आयोजित *हरियाणा ओलम्पिक* में एक कास्य व रजत पदक भी जीते थे। आलिया अपने स्कूल के कोच, रमेश वर्मा के प्रशिक्षण में पिछले दो वर्षों से मुक्केबाज़ी सीख रही है। जब स्कूल के चेयरमैन, नारायण डागर ने उसके हुनर को देखा तो उन्होंने स्कूल की ओर से उसे एक 'बॉक्सिंग किट' भेंट की व उसके प्रशिक्षण व यात्रा खर्च की भी व्यवस्था की।

क्या परिवार और दोस्तों में आलिया की हिम्मत की दाद दी जा रही है? एक अल्पसंख्यक समुदाय की लड़की जो पितृसत्तात्मक हरियाणा राज्य में, एक कठिन खेल में अपनी जगह बनाने का अथक प्रयास कर रही है, कि हौसला-अफ़ज़ाई के लिए क्या कुछ कदम उठाए जा रहे हैं? कुछ और नहीं तो क्या उसे साल भर पूरी ताकत लगाकर इस खेल में जुटे रहने, खेलकूद प्रतियोगिताओं में भाग लेने के साथ ही पढ़ाई करने के लिए कम से कम शाबाशी व प्रोत्साहन मिल रहा है? पूछने पर आलिया केवल कहती है कि उसके अब्बा-अम्मी को उस पर विश्वास है। ख़ासतौर पर फरीदाबाद नगरपालिका में कार्यरत उसके अब्बा, इस्लाम खान का उसे विशेष सहयोग मिलता है। अम्मी, फिरदौस उस पर कभी-कभार ख़फ़ा हो जाती हैं क्योंकि रिश्तेदारों-पड़ौसियों के ताने कि वह जवान लड़की को पुरुष कोच के साथ शहर के बाहर भेज देती हैं, उन्हें परेशान करते हैं। पर आलिया के माथे पर शिकन नहीं आती, "एक बार सानिया आपा की तरह मैं देश के लिए पदक व सम्मान लाना शुरू कर दूंगी तो सबकी ज़ुबान पर ताले लग जाएंगे," वह हंसकर टाल देती है।

किसी भी दूसरे विकासशील देश की तरह भारत में सफ़लता के मानदण्ड युवा लड़कों के इर्द-गिर्द बुने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि गरीब परिवारों के लड़के अपने माता-पिता के सहयोग व मेहनत के चलते सफलता की ऊंचाइयां छू पाते हैं। और ज़रूरत पड़ने पर भारतीय परिवार अपने हुनरमंद बेटों को प्रशिक्षण देने के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगाकर उन्हें प्रोत्साहित करने में हिचकिचाते नहीं हैं। आप देखें कि इस किस्से में कमज़ोर तबकों की गरीब युवा लड़कियों के हुनर विकास के लिए कोई जगह नहीं है।

हमारे देश की खिलाड़ी महिलाओं की अगर बात की जाए तो उनका सच शायद इससे कुछ भिन्न नहीं होगा। उन सभी के दखलअंदाज़ी पड़ोसी व रिश्तेदार रहे हैं जो उनके माता-पिता को यह याद कराना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते हैं कि एक जवान, युवा लड़की की सही जगह उसके घर की रसोई है, जब तक कोई उपयुक्त वर उसका हाथ नहीं थाम लेता। बहुत ज़्यादा हो तो वह स्कूल जा सकती है पर पिता नहीं तो उसकी मां का यह दायित्व है कि वह ऊंच-नीच का ध्यान रखे। परिवार के बुज़ुर्ग उसके पिता को सीख देते हैं कि थोड़ा बहुत पैसा बचाकर उसके

दहेज के लिए रखना समझदारी है और किसी 'वाहियात' से खेल के प्रशिक्षण के लिए उसे ज़ाया करना कोई अक्लमंदी का काम नहीं है। आख़िर उसे शादी के बाद तो चूल्हा ही तो फूंकना है कोई अखाड़ा-कुश्ती तो करनी नहीं है!

युवा महिला खिलाड़ियों, मुक्केबाज़ और ऐथलीटों की सफलताओं के जटिल किस्से खोजते-खोजते मैंने मैरी कॉम के बारे में जाना जो मणिपुर की एक युवा बॉक्सर है। मैरी कॉम बताती है कि शुरू-शुरू में उसके पिता ने उसका विरोध किया जब उसने मुक्केबाज़ी को अपना पेशा बनाना चाहा, हालांकि वह इस खेल का प्रशिक्षण अपने परिवार की आय बढ़ाने के लिए ले रही थी। उसके पिता का कहना था कि इस मुक्केबाज़ी के खेल से उसे एक पिटा-ज़ख्मी चेहरा मिलेगा, पति नहीं। मैरी को उनसे कोई सहयोग नहीं मिला और जब एक प्रतियोगिता के लिए वह थाईलैंड जा रही थी और रास्ते में उसका समान खो गया तब पिता ने उसे फौरन घर वापस आने का आदेश दिया। पर मैरी वापस नहीं लौटी और मैच जीतकर आई। आज मैरी कॉम के पिता को उस पर गर्व है और वो उसे पूरा सहयोग देते हैं।

कोलकाता की किद्दरपुर बस्ती की रज़िया शबनम भी इनमें से एक है। वह हमारे देश की पहली महिला मुक्केबाज़, कोच व अंतर्राष्ट्रीय रेफ्री है और अब मुसलमान किशोरियों के लिए एक 'रोल मॉडल' भी। रज़िया नामी मुक्केबाज़ मुहम्मद अली की मुक्केबाज़ बेटी, लाइला अली और अपने इलाके के स्वर्ण पदक विजेता, मुहम्मद अली कमर की बहुत बड़ी प्रशंसक है। रज़िया के पिता जो एक सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं और उसके सहयोगी भी, ने बीबीसी को बताया कि उनके इलाके में एक मुसलमान लड़की का मुक्केबाज़ी जैसे खेल में रुचि लेना परिवार के लिए एक 'जेहाद' ही था। समुदाय की परम्पराओं के ख़िलाफ़ जाने के कारण उनके पड़ोसी व परिवार के सदस्य उनसे ख़फा हैं। उन्हें अपनी बेटी को इस 'गैर औरताना' और खतरनाक खेल में प्रोत्साहित करने के लिए हमेशा ताने सुनने पड़ते हैं।

भारत में महिला मुक्केबाज़ी को सन् 2000 में सार्वजनिक खेलों में शामिल किया गया था। और यह हैरतंगेज़ बात है कि मां-बाप की मनाहियों, गरीबी व सामाजिक पूर्वग्रहों के बावजूद हमारे यहां काफ़ी कुशल मुक्केबाज़ किशोरियां उभर रही हैं। ये लड़किया केवल आत्म-रक्षा के मकसद से मुक्केबाज़ी नहीं सीखतीं बल्कि उनके लिए यह परिवार की आय बढ़ाने का साधन भी है। पर फिर भी उनके परिवार उनके ख्वाबों की ताबीर में उनका साथ नहीं देते। ये लड़कियां अपने खेल की तैयारी के लिए हॉस्टल में रहती हैं, जहां मूल सुविधाओं का भी अभाव है। उनके पीठ-पीछे उनके पड़ोसी उनका मज़ाक उड़ाते हैं, छींटाकशी करते हैं। पर ये लड़कियां मैच जीतती हैं और लगन के साथ खेलती हैं। उनकी हिम्मत और उनका विश्वास हमें अक्सर सोचने को मजबूर करता है कि एक मामूली से वजीफ़े के सहारे मुक्केबाज़ी जैसे कठिन खेल में अपना मुकाम बनाने की इनकी ख्वाहिश क्या कभी पूरी होगी? और इतना जिगर और हौसला दिखाने के बाद भी इन किशोरियों को तारीफ़ व प्रोत्साहन की जगह सामाजिक अवहेलना झेलनी पड़ती है, यह बड़े अफ़सोस की बात है। स्थानीय अखबारों व उनके साथ पढ़ने वाले साथी विद्यार्थियों के लिए उनकी हर हार की कीमत है उन्हें हतोत्साहित करना और उनका मज़ाक बनाना। पर इस सबके बावजूद इन लड़कियों ने उस बड़े दिन का तसव्वुर करना नहीं छोड़ा जिस दिन वे अंतर्राष्ट्रीय सम्मान व नाम हासिल करके अपने परिवार और देशवासियों का सर गर्व से ऊंचा कर पाएंगी।

आलिया व रज़िया के जीवन की ये कहानियां उस जटिल भावनात्मक चक्रव्यूह को रेखांकित करती हैं जिसे किसी भी हुनरमंद किशोरी को तोड़ना पड़ता है, फिर चाहे वह शिक्षा के लिए हो या किसी खेल के लिए अपने शरीर को प्रशिक्षित करने के लिए हो। कोच और शिक्षकों के साथ बातचीत करने से हमें अंदाज़ा होता है कि किस प्रकार आज़ादी के छः दशक बाद भी, हमारे मन में उम्मीद के दीये रोशन करती ये किशोरियां, जिनके अंदर बदलाव की भूख है और जो साल दर साल कड़ी मेहनत करती हैं, खेल के मैदान और प्रशिक्षण केंद्रों में रोज़ाना एक ऐसी विरोधी संस्कृति से टक्कर लेती हैं जो उनको विभिन्न तरीकों से हतोत्साहित करती है और कमतर समझती है। स्कूलों ने शायद हमारी किशोरियों को यह पाठ पढ़ाया होगा कि हमारा संविधान लड़के व लड़कियों को समान अवसर देने के लिए प्रतिबद्ध है। पर हमारे प्रशिक्षण कैम्पों में ये किशोरियों जानना चाहती हैं कि अपने घरों की चारदीवारी

के अंदर उन्हें उन अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष क्यों करना पड़ता है, जो उनका पैदाइशी हक़ है?

हिंदी फ़िल्म 'चक-दे इण्डिया' की सफलता इस बात का प्रमाण है कि हिम्मती किशोरियों के साहस के किस्से फ़िल्मों व दूरदर्शन के माध्यम से सबके सामने लाने से इन बौखलाई हुई लड़कियों व उनके परिवारों को प्रेरणा मिलती है। इससे हम सबको एहसास होता है कि हमारे गरीब परिवारों की ये किशोरियां कितने बुलंद हौसलों वाली हैं। और इन लड़कियों के लिए परेशान, सहमी हुई पत्नी या सकुचाई, कुपोषित, बीमार युवती बन रहने के अलावा तरक्की करके, चमकने और दमकने के अन्य उत्कृष्ट, खुशगवार विकल्प भी मौजूद हैं।

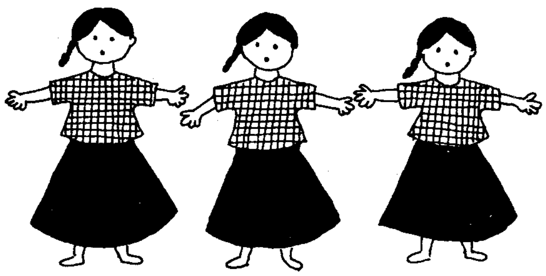

प्रथम स्राव

अनामिका

किसी जड़ी-बूटी की पुड़िया थे वे दिन
कुछ तुम्हारी जेब में होंगे,
कुछ मेरे कोट में पड़े हैं
अब तक!
जंगल की गंध अभी उनमें है!

बीते हुए मौसम निश्चिन्त नहीं बैठते-
खरगोशों की तरह
मांद खोदते रहते हैं हमारे भीतर!
उस मांद में झांककर देखूं तो
दीखती है एक लड़की
कुण्डलिनी-सी जगी बैठी
पलंग पर!

उसकी सफेद फ्रॉक और जांघिए पर
किसी परी-मां ने काढ़ दिये हैं
कत्थई गुलाब रात-भर में?

और कहानी के वे सात बौने
क्यों गुत्थम-गुत्थी मचा रहे हैं
उसके पेट में?

अनहद सी बज रही है लड़की
कांपती हुई
लगातार अंकृत हैं
उसकी जंघाओं में इकतारे!

चक्रों-सी नाच रही है वह
महीयसी मुद्रा में
गोद में छुपाए हुए
सृष्टि के प्रथम सूर्य सा
लाल तकिया!

किसी किंवदन्ती-सी
जाड़े की धूप
हिला रही है उसके कानों के बुन्दे!
जागरण का पहला प्रहर है यह!

किसी जड़ी-बूटी की पुड़िया-से
धीरे-धीरे खुल रहे हैं
कैसे रहस्य अनूठे!

'पुलिस-पुलिस' खेल रहा भैया-
सोचती है लड़की-
उससे अलग हूं मैं कैसे!

देश में औरत अगर बेआबरू, नाशाद है
दिल पे रख कर हाथ कहिए, देश क्या आज़ाद है

चूल्हा चौका चारदीवारी बचपन में सौंपे गये
ढेर ज़िम्मेदारियों के ज़बरन ही थोपे गये

बेटी वो पौधा है जिसको रोशनी ना जल मिले
ऐसा है वो फूल जो खिल सकता है पर ना खिले

देश में औरत अगर बेआबरू, नाशाद है
दिल पे रख कर हाथ कहिए, देश क्या आज़ाद है

चूल्हा चौका चारदीवारी बचपन में सौंपे गये
ढेर ज़िम्मेदारियों के ज़बरन ही थोपे गये

बेटी वो पौधा है जिसको रोशनी ना जल मिले
ऐसा है वो फूल जो खिल सकता है पर ना खिले

क्या है बचपन क्या शैतानी और नादानी है क्या
बेटियां न जान पाईं मौज के मानीं हैं क्या

कम उमर में शादी की गाड़ी में ये जोती गईं
बच्चियां बन-बन के माएं ज़िंदगी खोती गईं

कम उमर में शादी की गाड़ी में ये जोती गईं
बच्चियां बन-बन के माएं ज़िंदगी खोती गईं

बदनीयत से भी डरें और हर नज़र से हम डरें
फ़रियाद हम किस से करें गर हाथ अपनों के बढ़ें

चुप हैं लेकिन ये न समझो हम सदा को हारे हैं
राख़ के नीचे अभी भी जल रहे अंगारे हैं

बदनीयत से भी डरें और हर नज़र से हम डरें
फ़रियाद हम किस से करेंगर हाथ अपनों के बढ़ें

चेहरा फीका नज़रें नीचीं कैसी ये बुझ सी गईं
ये न हों रोशन तो होगा कोई घर रोशन नहीं

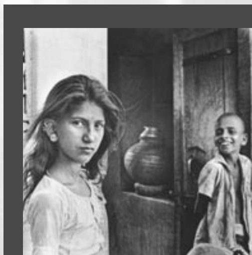

चुप हैं लेकिन ये न समझो हम सदा को हारे हैं
राख़ के नीचे अभी भी जल रहे अंगारे हैं

आधी शिक्षा आधी सेहत मज़दूरी आधी मिली
देश हुआ आज़ाद पर हमको न आज़ादी मिली

बालिकाओं पर
नौ पोस्टरों का सेट

भाषा:
हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू

अवधारणा व कविता:
कमला भसीन

फोटो: यूनिसेफ़, नई दिल्ली

प्रकाशन: जागोरी

फोटो: एक्शन इण्डिया

सशक्तता की ओर अग्रसर किशोरियां

कृति पालीवाल

एक्शन इण्डिया ने किशोरियों के साथ 1990 से काम की शुरूआत की। किशोरियों के साथ काम की शुरूआत के लिए सबसे पहले आवश्यकता थी एक ऐसे मंच की जहां पर आकर वे अपनापन महसूस करें। 'छोटी सबला' मंच एक ऐसा मंच है जहां वे अपने घर-परिवार से दूर अपने हमजोलियों के साथ अपने बारे में, अपने सपनों के बारे में बात करती हैं। छोटी सबला मंच के साथ-साथ छोटी बच्चियों के लिए 'नन्हीं सबला' मंच की स्थापना भी की गई।

किशोरियों के साथ जेंडर और यौनिकता पर काम की शुरूआत में 'लाइफ स्किल और पियर एजुकेटर कार्यक्रम' के ज़रिए उनसे बातें करने की कोशिश की गई। उनके साथ बात करते हुए हमने उनकी ज़िन्दगी में विभिन्न पहलुओं पर होने वाली हिंसा को समझा व जाना। साथ ही 2006 से शुरू *'मुमकिन है महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाली हिंसा का अन्त'* अभियान के तहत भी हिंसा के अन्य पहलुओं पर बात की। अब हम लड़कियों के साथ होने वाली विभिन्न प्रकार की बात करें तो सबसे पहले तो लड़कियों का जन्म लेना ही एक संघर्ष है। लड़कों की संख्या के अनुपात में दिन प्रतिदिन कम होती लड़कियों की संख्या उनके प्रति होने वाली विभिन्न हिंसाओं को स्पष्ट दर्शार्ती है। पैदा होते ही उन्हें घर में भेदभाव का सामना करना पड़ता है। उन्हें उनके भाई से कम खाना व कम देखभाल मिलती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्हें उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। चौथी या पांचवी कक्षा के बाद उनकी पढ़ाई रोक दी जाती है क्योंकि आर्थिक तंगी के कारण माता-पिता लड़के की पढ़ाई को ज़्यादा ज़रूरी मानते हैं। कुछ परिवारों में सिर्फ़ लड़की होने के कारण उनकी पढ़ाई को रोक दिया जाता है क्योंकि आम सोच यही है कि पढ़ाई करके उसे क्या करना है,

उसे तो सिर्फ़ घर चलाना है। लड़कियों के साथ होने वाली हिंसाओं में ये एक ऐसी हिंसा है जिसका शिकार प्रत्येक किशोरी होती है और जिससे उसका पूरा जीवन प्रभावित होता है।

जवान होती किशोरियों को घर से बाहर निकलने से भी रोका जाता है क्योंकि बाहर वे सुरक्षित नहीं हैं। बाहर का माहौल खराब है, वहां उनके साथ छेड़छाड़ होती है। कह सकते हैं कि समाज से बचाने के लिए उन्हें घर में बन्द करके रखा जाता है। पर घर के भीतर भी वे सुरक्षित नहीं होती हैं। घर के अन्दर-बाहर दोनों जगह वे यौनिक हिंसा का शिकार होती हैं। परिवार की इज़्ज़त बचाने के लिए उन पर पाबदियां लगा दी जाती हैं। उनसे उनकी आज़ादी छीन ली जाती है, जो कि उनका मौलिक अधिकार है।

लड़कियों के साथ सामाजिक-पारिवारिक स्तर पर होने वाली विभिन्न हिंसाओं की सूची बहुत लम्बी है। हिंसाओं को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि लड़कियां अपने अधिकारों को जानें, उन्हें प्राप्त करने के लिए और हिंसा को समाप्त करने के लिए आवाज़ उठाएं। इसके लिए आवश्यक है कि लड़कियां शिक्षा के महत्व को समझें और अपनी पढ़ाई जारी रखें। *गर्ल्स लर्निंग इंटरनेशनल* कार्यक्रम के तहत हम लड़कियों से उनकी शिक्षा के बारे में बात करते हैं, उन्हें पढ़ाई जारी रखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। ये कार्यक्रम दिल्ली के पांच इलाकों में चल रहा है (नई सीमापुरी, सुन्दरनगरी, जनता मज़दूर कालोनी, मदनगीर, दक्षिणपुरी)। प्रत्येक इलाके में लगभग 20 से 25 लड़कियां इसमें शामिल हैं जो कि प्रत्येक वीरवार को मिलती हैं। इस रोज़ वे अपनी और अपने आसपास की लड़कियों की शिक्षा पर बात करती हैं और उन्हें भी अपने कार्यक्रम में जोड़ती हैं, उनकी पढ़ाई के स्तर पर चर्चा करती हैं और उसमें आने वाली रुकावटों को दूर करने का प्रयास करती हैं। परिवार की तरफ से आने वाली रुकावटों को दूर करने के लिए परिवार में जाकर बात करती हैं। लड़कियों का मनोबल बढ़ाती हैं और पढ़ाई में मदद करती हैं। आर्थिक परेशानी होने पर उन्हें वजीफ़ा भी दिया जाता है।

इसके अलावा समय-समय पर विभिन्न ज्ञानवर्धक विषयों पर भी चर्चा व कार्यशालाएं होती हैं जैसे मानवाधिकार, एजुकेशन काउंसलिंग इत्यादि। ये कार्यक्रम अमरीकी स्कूलों के साथ चल रहा है इसलिए इसमें सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होता है, जैसे खाने की विधियां, जीवनशैली, पसंद-नापसंद इत्यादि। जेंडर और यौनिकता कार्यक्रम के तहत उनसे उनके अधिकारों की बात की जाती है। उन्हें बताया जाता है कि उनका शरीर उनका अपना है जिसे पूरी तरह जानना उनके लिए ज़रूरी है। यहां पर उनके स्वास्थ्य, शारीरिक व मानसिक बदलाव, उचित देखरेख व पोषक खाने की बात भी करते हैं। इसके साथ-साथ बात होती है उनके सपनों की और उन्हें वास्तविकता में बदलने की जिसके लिए उनकी मदद की जाती है। 'छोटी सबला' मंच के तहत उनका वैचारिक सशक्तिकरण तो हुआ ही है साथ ही साथ उन्होने कई प्रकार के हुनर भी सीखे हैं जिसके माध्यम से कई लड़कियों ने जीवनयापन के लिए रोज़गार भी शुरू किए हैं।

विभिन्न प्रयासों के माध्यम से हम लड़कियों को सशक्त बनाने का प्रयास कर रहे हैं पर घरेलू हिंसा एक ऐसा मुद्दा है जिसे खत्म करने के लिए सभी का एक साथ मिलकर आवाज़ उठाना बहुत ज़रूरी है। मुख्य रूप से युवाओं को इसमें विशेष योगदान देना होगा क्योंकि भविष्य उन्हीं से है। *मुमकिन है महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाली हिंसा का अन्त* अभियान (दक्षिण एशियाई छः देशीय अभियान- श्रीलंका, भारत, बंगलादेश, अफगानिस्तान, नेपाल और पाकिस्तान) में हम युवाओं को प्रोत्साहित करते हैं कि महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाली हिंसाओं को खत्म करने के लिए अपनी आदतों और व्यवहार में परिवर्तन लाएं। अभियान में हम सब मिलकर कोशिश कर रहे हैं घरेलू हिंसा के कारणों को जानकर उन्हें सकारात्मक ढंग से खत्म करने की। अभियान से जुड़कर कई लड़कियों ने अपने घर में बात की और अपने साथ, अपनी बहनों के साथ होने वाले भेदभाव को खत्म करने का प्रयास किया जिसके परिणाम बहुत सकारात्मक रहे हैं। अभियान में जुड़कर उसमें अपनी बात कहने की हिम्मत आई है और आत्मविश्वास बढ़ा है।

विभिन्न कार्यक्रम के माध्यम से हम लड़कियों का सशक्तिकरण करने का प्रयास कर रहे हैं जिससे उनके प्रति होने वाली विभिन्न प्रकार की हिंसाओं को समाप्त किया जा सकें और वे इतनी सबल हों कि अपने अधिकारों की रक्षा स्वयं कर सकें।

खोल दो

सआदत हसन मंटो

अमृतसर से स्पेशल ट्रेन दोपहर दो बजे चली और आठ घंटों के बाद मुगलपुरा पहुंची। रास्ते में कई आदमी मारे गये। अनेक ज़ख्मी हुए और कुछ इधर-उधर भटक गये।

सुबह दस बजे कैम्प की ठंडी ज़मीन पर जब सराजुद्दीन ने आंखें खोलीं और अपने चारों तरफ मर्दों, औरतों और बच्चों का एक उमड़ता समुद्र देखा तो उसकी सोचने-समझने की शक्तियां और भी बूढ़ी हो गयीं। वह देर तक गदले आसमान को टकटकी बांधे देखता रहा। यूं तो कैम्प में शोर मचा हुआ था, लेकिन बूढ़े सराजुद्दीन के कान जैसे बन्द थे। उसे कुछ सुनायी नहीं देता था। कोई उसे देखता तो यह ख्याल करता कि वह किसी गहरी नींद में खोया है, मगर ऐसा नहीं था। उसके होश-हवाश गायब थे। उसका सारा अस्तित्व शून्य में लटका हुआ था।

गदले आसमान की तरफ बगैर किसी इरादे के देखते-देखते सराजुद्दीन की निगाहें सूरज से टकरायीं। तेज़ रोशनी उसके अस्तित्व की रग-रग में उतर गयी और वह जाग उठा। ऊपर-तले उसके दिमाग में कई तस्वीरें दौड़ गयीं—लूट, आग, भागम-भाग, स्टेशन, गोलियां, रात और सकीना...सराजुद्दीन एकदम उठ खड़ा हुआ और पागलों की तरह उसने चारों तरफ फैले हुए इन्सानों के समुद्र को खंगालना शुरू कर दिया।

पूरे तीन घंटे वह 'सकीना-सकीना' पुकारता कैम्प की खाक छानता रहा, मगर उसे अपनी जवान इकलौती बेटी का कोई पता न मिला। चारों तरफ एक धांधली-सी मची थी। कोई अपना बच्चा ढूंढ़ रहा था, कोई मां, कोई बीवी और कोई बेटी। सराजुद्दीन थक-हारकर एक तरफ बैठ गया और मस्तिष्क पर ज़ोर देकर सोचने लगा कि सकीना उससे कब और कहां अलग हुई। लेकिन सोचते-सोचते उसका दिमाग सकीना की मां की लाश पर जम जाता, जिसकी सारी अन्तड़ियां बाहर निकली हुई थीं। उससे आगे वह और कुछ न सोच सकता।

सकीना की मां मर चुकी थी। उसने सराजुद्दीन की आंखों के सामने दम तोड़ा था, लेकिन सकीना कहां थी, जिसके विषय में उसकी मां ने मरते हुए कहा था, 'मुझे छोड़ दो और सकीना को लेकर जल्दी यहां से भाग जाओ।' सकीना उसके साथ ही थी। दोनों नंगे पांव भाग रहे थे। सकीना का दुपट्टा गिर पड़ा था। उसे उठाने के लिए उसने रुकना चाहा था। सकीना ने चिल्लाकर कहा था, 'अब्बाजी छोड़िये!' लेकिन उसने दुपट्टा उठा लिया था। ...

यह सोचते-सोचते उसने अपने कोट की उभरी हुई जेब की तरफ देखा और उसमें हाथ डालकर एक कपड़ा निकाला, सकीना का वही दुपट्टा था, लेकिन सकीना कहां थी?

सराजुद्दीन ने अपने थके हुए दिमाग पर बहुत ज़ोर दिया, मगर वह किसी नतीजे पर न पहुंच सका। क्या वह सकीना को अपने साथ स्टेशन तक ले आया था? क्या वह उसके साथ ही गाड़ी में सवार थी? रास्ते में जब गाड़ी रोकी गयी थी और बलवाई अन्दर घुस आये थे, तो क्या वह बेहोश हो गया था, जो वे सकीना को उठाकर ले गये?

सराजुद्दीन के दिमाग में सवाल ही सवाल थे, जवाब कोई भी नहीं था। उसको हमदर्दी की ज़रूरत थी, लेकिन चारों तरफ जितने भी इन्सान फंसे हुए थे सबको हमदर्दी की ज़रूरत थी। सराजुद्दीन ने रोना चाहा, मगर आंखों ने उसकी मदद न की। आंसू न जाने कहां गायब हो गये थे।

छः रोज़ के बाद जब होश-व-हवास किसी कदर दुरुस्त हुए तो सराजुद्दीन उन लोगों से मिला जो उसकी मदद करने के लिए तैयार थे। आठ नौजवान थे, जिनके पास लाठियां थीं, बन्दूकें थीं। सराजुद्दीन ने उनको लाख-लाख दुआएं दीं और सकीना का हुलिया बताया, 'गोरा रंग है और बहुत खूबसूरत है... मुझ पर नहीं अपनी मां पर थी...उम्र सत्रह वर्ष के करीब है।... आंखें बड़ी-बड़ी...बाल स्याह, दाहिने गाल पर मोटा-सा तिल... मेरी इकलौती लड़की है। ढूंढ़ लाओ, खुदा तुम्हारा भला करेगा।'

नौजवानों ने बड़े जज़्बे के साथ बूढ़े सराजुद्दीन को यकीन दिलाया कि अगर उसकी बेटी ज़िन्दा हुई तो चन्द ही दिनों में उसके पास होगी।

आठों नौजवानों ने कोशिश की। जान हथेली पर रखकर वे अमृतसर गये। कई मर्दों और कई बच्चों को निकाल-निकालकर उन्हें सुरक्षित स्थानों पर पहुंचाया। दस रोज़ गुज़र गये, मगर उन्हें सकीना कहीं न मिली।

एक रोज़ इसी सेवा के लिए लॉरी पर अमृतसर जा रहे थे कि छहररा के पास सड़क पर उन्हें एक लड़की दिखायी दी। लॉरी की आवाज़ सुनकर वह बिदकी और भागना शुरू कर दिया। नौजवानों ने मोटर रोकी और सबके-सब उसके पीछे भागे। एक खेत में उन्होंने लड़की को पकड़ लिया। देखा, तो बहुत खूबसूरत थी। दाहिने गाल पर बहुत मोटा तिल था। एक लड़के ने उससे कहा, 'घबराओ नहीं—क्या तुम्हारा नाम सकीना है?'

लड़की का रंग और भी ज़र्द हो गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया, लेकिन जब तमाम लड़कों ने उसे दम-दिलासा दिया तो उसकी दहशत दूर हुई और उसने मान लिया कि वह सराजुद्दीन की बेटी सकीना है। आठ नौजवानों ने हर तरह से सकीना की दिलजोई की। उसे खाना खिलाया, दूध पिलाया और लॉरी में बैठा दिया। एक ने अपना कोट उतारकर दे दिया, क्योंकि दुपट्टा न होने के कारण वह बहुत उलझन महसूस कर रही थी और बार-बार बांहों से अपने सीने को ढकने की कोशिश में लगी हुई थी।

कई दिन गुज़र गये—सराजुद्दीन को सकीना की कोई खबर न मिली। वह दिन-भर विभिन्न कैम्पों और दफ्तरों के चक्कर काटता रहता, लेकिन कहीं से भी उसकी बेटी का पता न चला। रात को वह बहुत देर तक उन नौजवानों की कामयाबी के लिए दुआएं मांगता रहता, जिन्होंने उसको यकीन दिलाया था कि अगर सकीना ज़िन्दा हुई तो चन्द दिनों में ही उसे ढूंढ़ निकालेंगे।

एक रोज़ सराजुद्दीन ने कैम्प में उन नौजवानों को देखा। लॉरी में बैठे थे। सराजुद्दीन भागा-भागा उनके पास गया। लॉरी चलने ही वाली थी कि उसने पूछा, 'बेटा, मेरी सकीना का पता चला?'

सबने एक जवाब होकर कहा, 'चल जायेगा, चल जायेगा।' और लॉरी चला दी। सराजुद्दीन ने एक बार फिर उन नौजवानों की कामयाबी की दुआ मांगी और उसका जी किसी कदर हल्का हो गया।

शाम के करीब कैम्प में जहां सराजुद्दीन बैठा था, उसके पास ही कुछ गड़बड़-सी हुई। चार आदमी कुछ उठाकर ला रहे थे। उसने मालूम किया तो पता चला कि एक लड़की रेलवे लाइन के पास बेहोश पड़ी थी। लोग उसे उठाकर लाये हैं। सराजुद्दीन उनके पीछे हो लिया। लोगों ने लड़की को अस्पताल वालों के सुपुर्द किया और चले गये।

कुछ देर वह ऐसे ही अस्पताल के बाहर गड़े हुए लकड़ी के खम्बे के साथ लगकर खड़ा रहा। फिर आहिस्ता-आहिस्ता अन्दर चला गया। कमरे में कोई भी नहीं था। एक स्ट्रेचर था, जिस पर एक लाश पड़ी थी। सराजुद्दीन छोटे-छोटे कदम उठाता उसकी तरफ बढ़ा। कमरे में अचानक रोशनी हुई। सराजुद्दीन ने लाश के ज़र्द चेहरे पर चमकता हुआ तिल देखा और चिल्लाया, 'सकीना!'

डॉक्टर, जिसने कमरे में रोशनी की थी, ने सराजुद्दीन से पूछा, 'क्या है?'

सराजुद्दीन के हलक से सिर्फ़ इस कदर निकल सका, 'जी मैं...जी मैं...इसका बाप हूं।'

सकीना के मुर्दा जिस्म में हरकत हुई। बेजान हाथों से उसने अपना नाड़ा खोला और सलवार नीचे सरका दी। बुढ़ा सराजुद्दीन खुशी से चिल्लाया, 'ज़िन्दा है—मेरी बेटी ज़िन्दा है...।' डॉक्टर सिर से पैर तक पसीने में तर हो गया।

संवाद

बोले बाल किशोरी

सोनल शुक्ला व यज्ञना परमार

वाचा महिला संदर्भ केंद्र जिसमें पुस्तकालय व सांस्कृतिक केंद्र भी शामिल थे, की स्थापना 1987 में हुई थी। 1995 से वाचा ने लड़कियों के साथ काम की शुरूआत की। मुंबई की बस्तियों में रहने वाली व नगरपालिका स्कूलों में पढ़ने वाली दस से चौदह वर्ष की किशोरियों पर वाचा ने विशेष ध्यान दिया। इन बच्चियों को बाल किशोरी के नाम से जाना जाता है जो प्रतीक है जीवन के दूसरे दशक के शुरूआती वर्षों का। इस लेख में वाचा के एक कार्यक्रम की झलक है जिसके माध्यम से बाल किशोरियों की बात की जा रही है।

जब-जब हम किशोरियों के नए समूह के साथ जुड़ते हैं तब-तब हमने पाया कि उन्हें अपनी ज़रूरतें और मांगों की अभिव्यक्ति में कठिनाई होती है। वे आपस में कानाफूसी और हंसी-ठठ्ठा करती हैं पर एक दो को छोड़कर कोई यह नहीं बताती कि वे क्या करना चाहती हैं या वे हमसे कार्यशाला के दौरान क्या अपेक्षा रखती हैं। शायद ऐसा इसलिए है क्योंकि उनके पास चुनाव के अधिकार नहीं हैं। यह भी जग-ज़ाहिर है कि लड़कियों/औरतों को सार्वजनिक रूप से ज़्यादा कुछ बोलने का मौका नहीं दिया जाता। घर में भी चुपचाप रहने वाली लड़कियों को बुजुर्गों का सहयोग मिलता है। एक बार स्वास्थ्य व यौन शिक्षा पर बात करते समय कुछ सहभागी लड़कियों ने बताया कि माहवारी शुरू होने पर उनके ज़ोर से हंसने पर बंदिश लगा दी जाती है। वाचा का अर्थ है अभिव्यक्ति या बोली। हम लड़कियों को अपनी बात कहने और बोलने के लिए कैसे प्रेरित करें? वे अपनी इच्छाओं, नज़रिए, अनुभवों और सपनों की अभिव्यक्ति कैसे करें? विभिन्न लोगों के सामने अपनी सच्चाईयां व मांगें कैसे रखें?

इसी अभिव्यक्ति की ज़रूरत को देखते हुए *बोले बाल किशोरी* कार्यक्रम जो नाटक, कला, लेखन और संगीत का मज़ेदार संकलन था नगरपालिका स्कूल की किशोरियों के साथ शुरू किया गया। यह कोशिश थी कि दस से चौदह

वर्ष की किशोरियां संगीत, नाटक, कला और लेखन के ज़रिए अपनी बात कह पाएं। इस उम्र की दूसरी लड़कियों को साथ जोड़ने के लिए प्रतियोगिताएं आयोजित की गई। लगभग 1200 बाल किशोरियों ने इसमें हिस्सा लिया। कुछ किशोरियों ने आत्म-अभिव्यक्ति कार्यशालाओं की मांग रखी तो उनके लिए छः केंद्रों में चार दिवसीय कार्यशालाएं आयोजित की गई जिनमें तीन सौ किशोरियों ने नाम दर्ज कराए। इस कार्यक्रम को कम्प्यूटर और फोटोग्राफी के साथ भी जोड़ा गया। इस समूह की 34 किशोरियों ने लेखन, फोटो और कला प्रतियोगिताओं से एकत्रित सामग्री पर काम करने की ज़िम्मेदारी उठाई। सभी सामग्री को एक अंतिम रूप देने के लिए एक अन्य छोटा समूह तैयार किया गया। इस समूह ने एक पावर पाईन्ट प्रेसेंटेंशन तैयार किया जिसमें बाल किशोरियों के अपनी बस्ती, घर, स्कूल व उनके नज़रिये और ख्वाबों की बातें प्रस्तुत की गई। ये प्रेसेंटेंशन बस्तियों, स्कूलों व शिक्षक संघ के दफ्तरों में प्रदर्शित किए गये। मुंबई प्रेस क्लब तथा महिला दिवस के कार्यक्रम में भी ये दिखाए गये।

प्रक्रिया और प्रस्तुति

प्रतियोगिताओं में दिये गए विषय किशोरियों के अपने अनुभव या उनके द्वारा तलाश किये जा रहे सपनों और ख्वाहिशों पर आधारित थे। उदाहरण के लिए *घर पर इतवार का दिन, लड़के व लड़कियों के खेल, बस्ती में झगड़ा, जब मैं बहुत नाराज़ थी, मेरे सपनों का विद्यालय, मेरा मुंबई शहर* कैसा हो... आदि। कार्यशालाओं में भी कुछ ऐसे ही विषय, खेल और व्यायाम लिए गये।

लेखन कार्यशाला

इस कार्यशाला में खेल, व्यायाम के साथ-साथ बाल किशोरियों के साक्षात्कार व सवाल भी शामिल किये गये। किशोरियों ने अपने विचार, कविताएं व जीवन के महत्वपूर्ण अनुभवों के बारे में लिखा। ज़्यादातर किशोरियों ने मृत्यु, दुर्घटनाओं व डांट-फटकार के बारे में लिखा। कार्यशाला में कविताएं व कहानियां भी पढ़ी गईं तथा तुकबंदी के माध्यम से कविताएं रची गईं। उदाहरण के लिए *आज स्कूल को मैं हो गई लेट* वाक्य में किशोरियों ने जोड़ा *क्योंकि फ्रेंड की कर रही थी वेट* या फिर *क्योंकि मेरा दुख रहा था पेट। साइकिल की ऑटो से हो गई टक्कर, ऑटो वाला था घनचक्कर, क्योंकि साइकिल का टायर था पंचर।* हमने कुछ विषय जैसे *मन करता है, संयुक्त परिवार, सुनामी, अफ़वाहें* आदि पर भी किशोरियों को लिखने के लिए प्रेरित किया। लड़कियों को इन बातों में बहुत मज़ा आया। कुछ गंभीर विषयों जैसे *अगर मैं एक दिन विश्व में राज करती तो* पर भी चर्चा छेड़ी गई। पर इस चर्चा में किशोरियों ने ज़्यादातर वही बातें दोहराईं जो उन्हें लगा बड़े सुनना चाहते हैं। इस कार्यशाला में नगरपालिका स्कूलों में पढ़ने वाली किशोरियों के शैक्षिक स्तर का भी सवाल सामने आया। किशोरियों की लिखने-पढ़ने की क्षमता में कमी पाई गई।

कला कार्यशाला

मोम के रंगों की मदद से किशोरियों को आकृति बनाने की सीख दी गई। साथ ही उन्हें हिदायत दी गई कि वे मंदिर पहाड़, सूरज आदि न बनाएं। कुछ विषय जैसे *चौपाटी पर एक दिन, लड़के लड़कियों के खेल, पानी आया-पानी आया* पर सबने अपेक्षित चित्र ही बनाए। एक-आध ने फुटबाल खेलती लड़कियां या पानी भरती लड़कियां, नल खुला छोड़कर मटर गश्ती करते लड़के आदि के चित्र बनाए जो उनके जीवन के अनुभवों पर आधारित थे। किशोरियों को अपनी बस्ती के जीवन के भी चित्र बनाने के लिए प्रेरित किया गया। किशोरियों को अखबार व रंगीन कागज़ों से छड़ियां व मुखौटे बनाने भी सिखाये गये। कार्यशाला के आखिरी दिन *मेरा सपना* विषय पर कोलाज बनाने को कहा गया जिसमें किशोरी समूह ने कुछ बेहतरीन विचार व्यक्त किये।

संगीत कार्यशाला

अगर तुम बोल सकती हो, तो गा भी सकती हो।
अगर तुम चल सकती हो, तो नाच भी सकती हो।

संगीत कार्यशाला का उद्देश्य कोई कलाकार पैदा करना नहीं था बल्कि इसका मकसद था कि किशोरियों अपनी हिचक तोड़कर गाने सीखें, अच्छे संगीत की समझ बनाएं व अपनी हमउम्र किशोरियों के एहसासों और परिस्थितियों से

प्रेरणा लें। अधिकांश नगरपालिका स्कूलों में संगीत शिक्षक नहीं होते और किशोरियों को केवल फ़िल्मी गाने आते हैं। इस कार्यशाला में वाचा रचित *किशोरी गीत* की मदद से किशोरियों को कुछ गाने का प्रशिक्षण दिया गया। उन्हें धुन, ताल, गाने के रूप, गाने का अर्थ आदि की जानकारी भी दी गई। दो समूहों में बंटकर गाने व जोड़ों में गाने को भी प्रोत्साहित किया गया। बाल किशोरियों को *लिखेगें नए किस्से, ठुमक मैं तो नाचूंगी* गीत काफी पसंद आए।

नाटक कार्यशाला

इस कार्यशाला में किशोरियों को अपना परिचय देने को कहा गया। साथ ही अपना पसंदीदा खाना, कपड़े और वे क्या बनना चाहती हैं भी बताना था। कुछ किशोरियां बेहद शर्मीली थीं और बोलने से डर रही थीं। उनकी हिचक तोड़ने के लिए कुछ खेल खिलाए गये। किशोरियों ने शिक्षिका, डॉक्टर, आर्किटेक्ट, बिल्डर बनने की इच्छा ज़ाहिर की। जब एक लड़की ने कहा कि वह विमान चालक बनना चाहती है तो दूसरी अचंभित हो कर बोली, लड़कियां विमान चालक नहीं हो सकतीं, वे केवल परिचारिका बन सकती हैं। इससे उनके भीतर दबे पूर्वग्रहों का पता चलता है।

कार्यशाला में ज़ोर से बोलना, स्पष्टता से बोलना (पुलिस साइरन से कानाफूसी तक) आंख मिलाना, एकाग्रता और सीधे चलने पर भी ध्यान दिया गया। कुछ मज़ाकिया किस्से भी देखने को मिले। जैसे आंख बंद किए एक लड़की सड़क पर पहुंच गई और वहां गाड़ियों का हार्न सुनने के बाद वह चौंक पड़ी। लड़कियों को व्यक्गित अभिव्यक्ति के मौके भी दिये गये जो उन्होंने नाटक के ज़रिए प्रस्तुत किये। कुछ ऐसी बातें सामने आई जिनसे पता चला कि कौन सी बातों से उन्हें गुस्सा आता है।

भाई जब साइकिल की चाबी नहीं देता।
जब मेरी कोई बात नहीं सुनता है।
बहन काम नहीं करती है।
जब मुझे खेलना है और मां सामान लेने भेजती है।

अपने मन की बात कह डालने से, या फिर मिठाई चुराने या लालच करने जैसी बातें एक दूसरे को बताकर किशोरियां उन्मुक्त और हल्का महसूस कर रही थीं।

प्रतिक्रियाएं

जहां माताएं अपनी बच्चियों के कम्प्यूटर कौशल और अपनी बात कह पाने की हिम्मत को देखकर खुश हुई वहीं शिक्षकों को यह चुनौतीपूर्ण लगा और उन्होंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। बाद में उन्होंने भी किशोरियों की प्रशंसा की। अपने शिक्षकों की आलोचना, बेरूखी और दबाव सहती ये किशोरियां इस पर बहुत प्रसन्न हुईं। पर सबसे ज़्यादा मुश्किल उन्हें प्रेस कांफ्रेंस के दौरान हुई जहां कुछ पुरुषों ने असुरक्षित महसूस किया और उनके जीवन के अनुभवों और समझ से परे प्रश्नों के उत्तर उनसे मांगे। पर किशोरियों ने इस मुश्किल का भी हिम्मत के साथ सामना किया। बीच में प्रशिक्षक को पत्रकारों को टोकना पड़ा कि ये बच्चियां अभी बारह वर्ष की भी नहीं हैं। एक पत्रकार जिसने दूसरे दिन अखबार में बड़ी तारीफ़ करने वाली रिपोर्ट लिखा ने कह डाला कि "मेरी बेटियां भी इसी तरह सोचती होंगी।"

स्कूल की प्रतिक्रिया कुछ अजीब सी थी। जब वाचा की टीम जीतने वाली किशोरी का नाम बताने कक्षा में पहुंची तब शिक्षिका बड़ी नाराज़ हुई और हैरानी से बोली, ये लड़की ये कैसे इतने ऊपर आ सकती है। कोई गलती हुई होगी। इसकी लिखावट तो देखो कितनी गंदी है। हमने समझाया कि यह प्रतियोगिता लेखन की अभिव्यक्ति की थी लिखाई जांचने की नहीं। हमें खुशी है कि शिक्षिका ने इस बात को समझा फिर वह उस किशोरी को हर कक्षा में ले गई और उसकी प्रशंसा की। इसी तरह कला प्रतियोगिता में भी लड़कियों को आज़ादी से अपनी सोच अनुसार चित्र बनाने को कहा गया।

बोले किशोरी कार्यक्रम अब लड़कियों के साथ हमारे सभी काम में शामिल कर लिया गया। इसके ज़रिये हमें किशोरियों के विषय में समझ बनाने और ज्ञान अर्जित करने में सहायता मिली है। हम उन सभी बाल किशोरियों के आभारी है जिन्होंने अपने जीवन के अनुभव हमारे साथ बांटे।

परिचय

अपने अस्तित्व की खोज

प्रीति किरतब

अस्तित्व के मायने हैं पहचान। देहरादून में घरेलू कामगार और निर्माण श्रमिकों के बीच कार्यरत यह एक सदस्यता आधारित महिला समूह है जिसका मकसद है महिला कामगारों को अच्छे वेतन युक्त काम मुहैय्या कराना जिससे वे अपने निम्न सामाजिक-आर्थिक दर्जे को बेहतर बनाकर सशक्त बनें। अस्तित्व के सदस्यों का मानना है कि महिलाओं के आर्थिक हालात उनके व उनके बच्चों के हक़ों और अवसरों पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। कम आय और आर्थिक नियंत्रण के अभाव में वे अपनी सेहत शिक्षा और पैसे से जुड़े निर्णय आज़ादी से नहीं ले पातीं जिसका सीधा नतीज़ा शोषण और हिंसा के रूप में उन्हें व बच्चों को भुगतना पड़ता है। इस लेख में अस्तित्व अपने कार्यक्रम 'लाडली' के माध्यम से इस समुदाय की 7 से 18 वर्ष की किशोरियों के जीवन और सशक्तता की ओर उनके प्रयासों से हमारा परिचय करा रहे हैं।

भारत में पिछले दशक में शिक्षा के बेहतर होती दर के बावजूद आज भी बड़ी संख्या में बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं। इन बच्चों में अधिक तादाद छोटी बच्चियों की है जो अपनी प्राईमरी शिक्षा भी पूरी नहीं कर पातीं। सात वर्ष से ऊपर आयु की किशोरियों में राष्ट्रीय शिक्षा दर है 54% जबकि लड़कों के लिए यह दर 75% है। उत्तरी भारत के हिंदी भाषी राज्यों में लड़कियों की यह दर 33% से 50% मात्र है।

निम्न आय वाले जिस तबके के साथ अस्तित्व जुड़ा है उसमें लगभग 20% लड़कियां स्कूल नहीं जा रही हैं या फिर 50% नौ-दस वर्ष की होने पर पढ़ाई छोड़ देती हैं। वे घर पर रहकर छोटे भाई-बहनों की व घर के काम की ज़िम्मेदारी उठाती हैं और उनके माता-पिता घरेलू कामगार या निर्माण मज़दूरी करते हैं। 20 वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते इन लड़कियों की शादी कर दी जाती है। कुछ तो पंद्रह-सोलह पर ही ब्याह दी जाती हैं। शादी के पहले साल में ही वे मां बन जाती हैं और फिर गर्भ निरोधकों की जानकारी न होने के कारण वे एक के बाद एक संतान पैदा करती रहती हैं। ज़िम्मेदारियों के इस बोझ से ग्रस्त वे अपने पतियों के साथ कोई आत्मीय संबंध बनाने या अपने जीवन से जुड़े कोई

भी निर्णय लेने से वंचित रहती हैं। इस समुदाय में मां-बाप अपनी किशोरियों की दूसरे लड़कों के साथ मेल जोल और दोस्ती को लेकर भी बेहद चौकन्ने रहते हैं। उन्हें डर रहता है कि कहीं कोई 'ऊंच-नीच न हो जाए' और लड़की की शादी में मुश्किल हो जाए। वे दहेज को भी लेकर चिंतित रहते हैं। कुल मिलाकर आम रवैया इन किशोरियों को एक बोझ के रूप में देखने का है और माता-पिता की यही मंशा होती है कि वे किशोरी को घर में बंद करके रखें और यथायोग्य वर के साथ उसकी शादी करा कर बोझ मुक्त हो जाएं। उनके अनुसार शिक्षा, आत्मविश्वास व आज़ादी मिलना लड़कियों के लिए खतरनाक होता है क्योंकि सक्षम होने पर वे परिवार की 'इज़्ज़त' सहेज कर नहीं रखेंगी। इस मानसिकता के नतीजतन किशोरियों को घर से बाहर निकलने, शिक्षा, काम या फिर दोस्तियां करने के मौकों से दूर रखा जाता है। अधिकांश किशोरियां खुद या घर के अन्य सदस्यों पर घरेलू हिंसा होते देखती हैं और इस पर खामोशी साधे रहती हैं। इसी चुप्पी के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयास अस्तित्व अपने कार्यक्रम के अंतर्गत करने में सक्रिय है।

लाडली कार्यक्रम के तहत किशोरियों को बोलने, खेलने, मस्ती करने और अपनी पसंदीदा चीज़ों के बारे में जानने समझने को प्रोत्साहित किया जाता है। वे नाटक, चित्रकारी, संगीत और घूमने-फिरने जैसे कार्यक्रमों मे ंभी जुड़ सकती हैं। उन्हें अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिए आर्थिक और शैक्षिक सहयोग भी दिया जाता है। साथ ही कम्प्यूटर, अंग्रेज़ी बोलचाल, वाहन चलाना, फोटोग्राफ़ी जैसे व्यवसायिक कौशल हासिल करके नौकरी या अपना स्वःरोज़गार शुरू करने में भी मदद की जाती है।

कुछ विशेष कार्यक्रम जो इस *लाडली* योजना के तहत चलाए जा रहे हैं वे निम्न हैं।

समुदाय में किशोरी समूह की शुरूआत

इसके तहत पांच रिहाइशी इलाकों में *लाडली* किशोरी समूह जिसमें सात वर्ष से ऊपर की किशोरियों को जोड़ा गया है, शुरू किए गए हैं। इस समूह की मीटिंग, चर्चाएं इलाके के ही किसी स्कूल या घर में चलाई जाती हैं। ये किशोरियां अस्तित्व के दफ़्तर से किताबें, पोस्टर लेकर भी पढ़ सकती हैं या फिर कोई खेल खेलने या बातचीत करने आती हैं। शुरू में संस्था इन्हें मीटिंग चलाने में सहयोग करेगी पर प्रयास यह रहेगा कि धीरे-धीरे ये किशोरियां स्वयं ये ज़िम्मेदारी उठा लें। इस समूह में सात वर्ष की छोटी बच्चियों को शामिल करने का मुख्य आशय है उन्हें भेदभाव, काम के बोझ, हिंसा के माहौल से दूर रखने की कोशिश। साथ ही वे अपनी उम्र से बड़ी किशोरियों को देखकर कुछ सकारात्मक बातें भी सीख पाएंगी।

कम्प्यूटर प्रशिक्षण व इंटरनेट कैफ़े

समुदाय की किशोरियों के लिए कम्प्यूटर एक खास आकर्षण हैं क्योंकि अधिकतर कम्प्यूटर कक्षाओं या इंटरनेट कैफे में लड़के अधिक पाए जाते हैं और माता-पिता अपनी किशोरियों का इनसे ज़्यादा मेलजोल पसंद नहीं करते। अस्तित्व कम्प्यूटर व इंटरनेट प्रशिक्षण के ज़रिए इन किशोरियों को एक व्यवसायिक कौशल प्रदान करने का प्रयास कर रही है जिससे वे अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों पर भी समझ बना पाएं। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसी जगह है जहां किशोरियां अपनी हमउम्र साथियों से मिलजुल सकती हैं और मस्ती व खुशी के पल बिता सकती हैं।

मैं कौन हूं-आत्म-परिचय

हर महीने अस्तित्व के दफ्तर में एक फ़िल्म कार्यशाला या फिर चर्चा का आयोजन किया जाता है जिनके ज़रिए किशोरियां अपने शरीर, अपनी पहचान व लैंगिक समानता जैसे मुद्दों पर समझ बनाती हैं। किशोरियों को अपने रिश्तों में लैगिंक समानता व जानकारी युक्त निर्णय बनाने के लिए भी प्रेरित किया जाता है।

व्यक्तिगत काउंसलिंग

अक्सर किशोरियां अपने डर, ख्वाहिशें और चाहतें घर वालों या सहेलियों के साथ नहीं बांटती क्योंकि उन्हें लगता है कि उनकी बात समझी नहीं जाएगी। इसी समस्या को सम्बोधित करने के लिए व्यक्तिगत काउंसलिंग की सुविधा दी जाती है।

शैक्षिक व करियर समूह

किशोरियों को अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए वजीफ़े व आर्थिक मदद प्रदान की जाती है। स्कूली शिक्षा खत्म करने के बाद किशोरियों को कौशल शिक्षा भी दी जाती है। फोटोग्राफ़ी, बाल काटने, वाहन चलाने, होटल मैनेजमेंट आदि कुछ कौशल हैं जिन्हें ये किशोरियां सीखना चाहती हैं।

अंग्रेज़ी बोलचाल व आत्म-रक्षा प्रशिक्षण

किशोरियों को अंग्रेज़ी बोलना सिखाने के पीछे मकसद है कि वे कोई रोज़गार हासिल कर पाएं जैसे सेल्स गर्ल, दफ्तर का काम, रिसेप्शनिस्ट, स्कूल सहायक आदि व अपना आत्म-विश्वास भी बढ़ा सकें। इन किशोरियों को आत्म रक्षा प्रशिक्षण देने का भी प्रयास जारी हैं जिससे वे बाहर अकेले आने-जाने के लिए हिम्मत जुटा सकें। इससे यह भी फायदा होगा कि किशोरियां अपनी शिक्षा व काम ज़्यादा हौसले के साथ कर सकेंगीं।

साईकिल खरीदो स्कीम

आवाजाही किशोरियों के लिए एक विकट समस्या है जो उनको अवसरों का लाभ उठाने से रोकती है। शाम ढलने पर माता-पिता उन्हें घर से बाहर नहीं निकलने देते। साईकिल खरीदो स्कीम के ज़रिए किशोरियों को साईकिल खरीदने में सहायता की जाती है। आधे पैसे अस्तित्व देता है, बाकी आधे की जुगाड़ किशोरियां खुद करती हैं।

इन तमाम कार्यक्रमों का लक्ष्य है किशोरियों में आत्म विश्वास बढ़ाकर उन्हें सशक्त बनाना। साथ ही उनमें अधिकारों की समझ व चेतना जागृति बढ़ाकर अपने आर्थिक-सामाजिक दर्जे को सुधारना। यह आशा और अपेक्षा की जा रही है कि किशोरियों के साथ इस शुरूआती स्तर पर काम करने से भविष्य में युवा लड़कियां ज़्यादा शिक्षित,

लाडली कार्यक्रम के मुख्य लक्ष्य हैं:

- किशोरियों को अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करने में सहयोग
- उन्हें रोज़गार कौशल सीखने के लिए प्रेरित करना
- किशोरियों में आर्थिक स्वावलंबन का विकास
- बाल विवाह तथा कम आयु में बिना रज़ामंदी के विवाह पर रोक
- अपनी पहचान, शरीर और मन के बारे में समझ व जानकारी बढ़ाना जिससे वे अपने जीवन व शरीर पर नियंत्रण रख सकें
- अधिकार, कानून, हिंसा मुक्त जीवन जीने, समान शिक्षा, वेतन, काम, सम्पत्ति, विरासत हक़ों को हासिल करना
- आत्म-विश्वास, स्वावलंबन और आत्म-सम्मान का विकास

आत्म-निर्भर और आत्मविश्वासी बनकर एक समान, न्याय संगत समाज के विकास में अपना योगदान दे पाएंगी।

पर किशोरियों के बीच काम करने की इस कोशिश में चुनौतियों का भी सामना करना पड़ता है। काफी माता-पिता अपनी लड़कियों को इस कार्यक्रम में जुड़ने से रोकते हैं क्योंकि उनके विचार में इसमें शामिल होकर वे अधिक मुखर और ज़िद्दी बन जाएंगी। किशोरियां भी काम के बोझ व समय की कमी के कारण कार्यक्रम से जुड़ नहीं पातीं। कुछ किशोरियां ऐसी भी हैं जो चर्चा और बातचीत जैसे गंभीर तरीकों से लैंगिक समानता की समझ बनाने में रुचि नहीं दिखातीं। इन किशोरियों के साथ काम करने के लिए मनोरंजक व रचनात्मक तरीके ईजाद करने पड़ते हैं।

मुझे उसमें रब दिखता है

जुही

शनिवार को मुझे अपनी बेटी का रिपोर्ट कार्ड लेने स्कूल जाना है। मैं उसकी शिक्षिका को कहे जाने वाले जुमलों को एक बार पुनः दोहराती हूं। वे उसकी खास ज़रूरतों से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं और मुझे देखते ही सवालों-शिकायतों की बौछारें लगा देती हैं।

जहां तक भावनात्मक समझदारी की बात है मेरी बेटी को अव्वल ग्रेड मिलता है पर व्यवहार कुशलता और दूसरों के साथ संबंधों का जहां सवाल है वहां वो फेल हो जाती है। उसके इक्के-दुक्के दोस्त हैं और वे भी उसकी उम्र और कक्षा के नहीं हैं। या तो वे उससे छोटे हैं या किसी भी तरह प्रतिस्पर्धा में उससे कम हैं।

जितना मुझे याद है वह हमेशा ऐसी ही थी। दो वर्ष की उम्र में वह फिसलपट्टी पर खेलती रहती थी पर दूसरे हम उम्र बच्चों के साथ उसे खिलाने की मेरी हर कोशिश नाकामयाब ही रही।

पर जब एक लकड़ी के टुकड़े को उठाकर रेत पर वह अक्षर तराशती थी तो मेरे सारे डर उड़न छू हो जाते थे। मैं किताबों के अंबार लगाती जाती और वह किसी किताबी कीड़े की तरह उनसे चिपकी रहती। ढाई वर्ष की होते-होते उसे बीस तक जोड़ पूरी तरह आ गया था।

उसकी बोली अस्पष्ट और गढ़मढ़ थी। उसे वाक्य जोड़-तोड़ वाले जिन्हें सिर्फ़ मैं समझ सकती थी। एक बार जब मेरी भतीजी बीमार पड़ी तब चिकित्सक ने मुझे सलाह दी कि मैं अपनी बेटी को किसी मनोचिकित्सक के पास इलाज के लिए ले जाऊं। उन्होंने कहा कि उसे 'अटेंशन डेफ़िसिट हाईपर एक्टिविटी डिसआर्डर' की समस्या है। मुझे इस बात से बेहद तकलीफ़ हुई और मैंने उसे भूलना ही उचित समझा।

हालांकि वक्त के साथ मेरी बेटी की बोली कुछ साफ़ हो रही थी पर फिर भी उसका संज्ञा-ज्ञान बिल्कुल गड़बड़ ही रहा। वह अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से दुनिया को एक अलग नज़र से देखती और दुनिया उसे अपने से अलग समझती। इसी कश्मकश से जूझती मैं अपने दिलो-दिमाग पर किसी तरह काबू रखकर डरती-सहमती जीने की कोशिश करती रही।

सात वर्ष की होने पर वह अपनी कक्षा में अव्वल आई। उसे सीधे पहली कक्षा में दाखिल कर लिया गया। पहली दफ़ा उसकी दोस्ती एक पड़ोस में रहने वाले बच्चे से हुई जिसने उसको प्यार के साथ अपनाया था। पर घर के भीतर उसकी इकलौती दोस्त मैं थी। घर के सामने खेल के बड़े मैदान में बहुत से बच्चे खेलते रहते थे। मेरी बेटी भी वहां जाती। फ़र्क़ बस इतना था कि वह अकेली खेल रही होती थी। कुछ दिनों बाद उसका इकलौता दोस्त भी उससे दूर दूसरे शहर चला गया था। समय का चक्र चलता गया और मेरी बेटी ने किशोरावस्था की दहलीज़ पर अपना कदम बढ़ाया।

मुझे डर था कि वह लड़खड़ाकर गिर न जाए इसलिए उसके प्रति मेरा रवैया कुछ ज़्यादा ही सुरक्षात्मक हो चला था। मैं डरती थी उसके लिए और एक दिन मेरा यह डर सच हो गया। उसको लेकर मैं एक संगीत समारोह में गई थी जहां ज़ोर से गाने बज रहे थे। मेरी बेटी ने यहां बहुत शोर मचाया। बौखलाई सी वह इधर-उधर भागती रही। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा था। घबराहट और शर्मिंदगी में मैं उसे घसीटकर एक कोने में ले गई और कसकर दो थप्पड़ जमा दिये। जीवन में पहली बार मुझसे इतनी बड़ी गलती हुई थी। मैं अपनी खुद की भावनाओं के उतार-चढ़ाव से उबर नहीं पा रही थी। शर्म, मायूसी, पराजय और हताशा ने मेरी नसों में तनाव भर दिया था।

उसी समारोह में मौजूद एक मनोचिकित्सक ने इस घटना का ज़िक्र मेरे पति से किया। मेरे पति ने मुझे समझाया, "यह वही कह रहे हैं जो तुम पिछले बारह वर्षों से हमें समझाने की कोशिश कर रही हो।" बस उसी क्षण से हमारी ज़िंदगी बदल गई।

हम अपनी बेटी को लेकर एक मनोचिकित्सक के पास गये। हम समझना चाहते थे कि हमारी इस 'अलग' सी बेटी में अलग क्या था। मुझे जाकर सुकून मिला कि 'अटेंशन डेफ़िसिट हाईपर एक्टिविटी डिसआडर' नाम की समस्या के कुछ लक्षण अब मेरी बेटी में मौजूद नहीं रहे थे। मेरी शिक्षा और आंतरिक जागरूकता ने उसे अपनी कई चुनौतियों का सामना करने में सक्षम बना दिया था। मैंने अनजाने में ही उसकी 'हाईपर एक्टिविटी' को किताबों, ध्यान, गायन, पियानो वादन के प्रति रूझान की ओर मोड़ दिया था। उसकी परेशानी सामने सिर्फ़ ऐसे माहौल में आती थी जहां का वातावरण उसे अपरिचित लगता था।

अभी उसे बहुत लंबा सफ़र तय करना है और संघर्ष की यह तो बस शुरूआत मात्र है। आजकल अपने साथियों की बेरूखी और अलगाव उसे चोट पहुंचाने लगे हैं। वह अपने अलगाव को समझने का अथक प्रयास करती रहती है पर यह नहीं समझ पाती कि वह अलग क्यों हैं? उसे सब दोस्त अपने से दूर क्यों रखते हैं? शिक्षक उसे 'प्राब्लम चाइल्ड' क्यों कहते हैं? हम उसकी इतनी ज़्यादा चिंता क्यों करते हैं? मैं उसके सभी 'क्यों' का उत्तर देने में असमर्थ हूं। पर कोशिश कर रही हूं कि उम्र के इस दौर में उसे थाम सकूं। पर हर रात मैं अपनी आंखें बंद करके ईश्वर को शुक्रिया अदा करना नहीं भूलती जिसने मुझे एक ऐसी बेटी की मां बनाया है जो मुझे भावनात्मक रूप से सशक्त बनने में मदद कर रही है। और अपनी इस बेटी की हर कोशिश में मुझे रब दिखता है।

चित्र: जैकी फिलोमिना

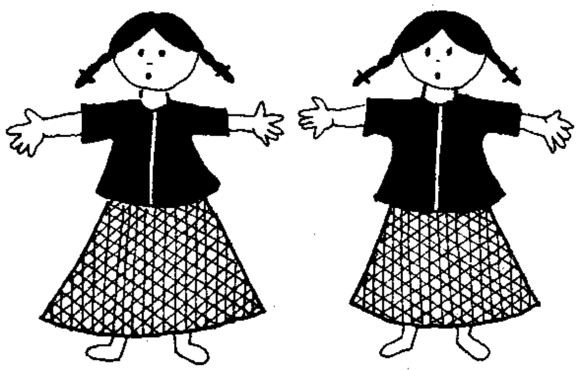

बेजगह

अनामिका

"अपनी जगह से गिरकर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरतें और नाखून"-
अन्वय करते थे किसी श्लोक का ऐसे
हमारे संस्कृत टीचर।
और मारे डर के जम जाती थीं
हम लड़कियां
अपनी जगह पर!

जगह-जगह क्या होती है?
यह, वैसे, जान लिया था हमने
अपनी पहली कक्षा में ही!
याद था हमें एक-एक अक्षर
आरम्भिक पाठों का-
"राम, पाठशाला जा!
राधा, खाना पका!
राम, आ बताशा खा!
राधा, झाड़ू लगा!
भैया अब सोएगा,
जाकर बिस्तर बिछा!
अहा, नया घर है!
राम, देख, यह तेरा कमरा है!
"और मेरा?"
"ओ पगली,
लड़कियां हवा, धूप, मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता!"

जिनका कोई घर नहीं होता-
उनकी होती है भला कौन-सी जगह?
कौन-सी जगह होती है ऐसी
जो छूट जाने पर
औरत हो जाती है
कटे हुए नाखूनों,
कंघी में फंसकर बाहर आए केशों-सी
एकदम से बुहार दी जाने वाली?

घर छूटे, दर छूटे, छूट गए लोग-बाग,
कुछ प्रश्न पीछे पड़े थे, वे भी छूटे,
छूटती गई जगहें।

परम्परा से छूटकर बस यह लगता है-
किसी बड़े क्लासिक से
पास कोर्स बीए के प्रश्नपत्र पर छिटकी
छोटी-सी पंक्ति हूं-
चाहती नहीं लेकिन
कोई करने बैठे
मेरी व्याख्या, सप्रसंग!

सारे सन्दर्भों के पार
मुश्किल से उड़कर पहुंची हूं,
ऐसे ही समझी-पढ़ी जाऊं
जैसे
अभंग!*

*तुकाराम के 'अभंग' मन में थे

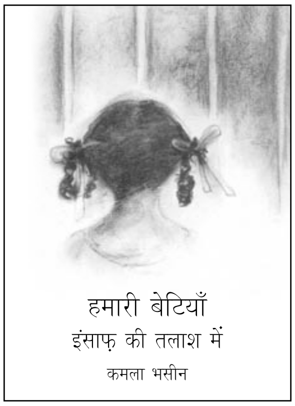

हमारी बेटियां : इंसाफ़ की तलाश में

लेखक **कमला भसीन**
प्रकाशक **जागोरी**
पृष्ठ **36**
भाषा **हिन्दी**

भारत में लड़कियों की अवहेलना एक ऐसा कड़वा सच है जो समाज को दीमक की तरह चाट रहा है। हमारी राष्ट्रपति एक महिला हैं, देश की उद्योगपति, वैज्ञानिक, विमानचालक, संसद सदस्य भी महिलाएं हैं, फिर भी दिन-ब दिन बालिका भ्रूण हत्या के आंकड़े बढ़ते चले जा रहे हैं। लड़कियों से उनके जीने तक का हक़ छीना जा रहा है। आखिर इस भेदभाव, बेरुखी और अन्याय की जड़ें कहां हैं? समाज और परिवार की कौन सी सोच बेटियों को कमतर मानकर उन्हें प्रताड़ना सहने के लिए मजबूर करती है? उसे शिक्षा, अच्छा भोजन, घूमने, आज़ादी से सांस लेने से वंचित करती है?

इन्हीं तमाम प्रश्नों के उत्तर जागोरी द्वारा प्रकाशित पुस्तक *हमारी बेटियां इंसाफ़ की तलाश में* पाये जा सकते हैं। वैसे तो यह पुस्तक 1991 में लिखी गई थी पर इसमें मौजूद जानकारी आज के दौर में भी उतनी ही उपयुक्त और समयोचित है जितनी की दो दशक पहले थी।

लेखिका ने इस पुस्तक की शुरूआत में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं और उनके जवाब समझाते हुए पाठक को आत्मचिंतन करने के लिए बाध्य किया है।

क्या बेहाल बेटियों से देश का भविष्य खुशहाल बन सकता है? क्या बेटियों को शिक्षा और सेहत दिये बिना "सब को शिक्षा", "सब को सेहत" के नारे सच्चाई बन सकते हैं? इन सवालों का जवाब है "नहीं"। अगर देश बनाना है तो लड़की-लड़के दोनों को बनाना होगा। दोनों की प्रतिभा को निखारना होगा, दोनों को एक सपनों भरा भविष्य देना होगा। लड़कियां देश का भविष्य तभी बन सकती हैं जब उनका अपना भविष्य होगा।

पुस्तक में आंकड़ों की मदद से लड़कियों की गिरती संख्या की सच्चाई से पाठकों को रूबरू किया गया है।

0-6 वर्ष की उम्र के बच्चों में लड़कियों की संख्या साल दर साल बहुत तेज़ी से घटती जा रही है। 1961 में जनसंख्या आंकड़ों के अनुसार 0-6 वर्ष की आयु के बच्चों में हर 1000 लड़कों पर 976 लड़कियां थीं। 1971 में लड़कियों की संख्या घटकर 964 हो गई, सन 1981 में 962 बच्चियां और 1991 में 945, अगले दस साल बाद सन 2001 में 1000 लड़कों पर 927 लड़कियां रह गई थीं।

इन आंकड़ों के साथ-साथ इस पुस्तक में उन तमाम कारणों का भी उल्लेख किया गया है जिससे यह मालूम होता है कि हमारे देश में लड़कियों व औरतों की गिरती संख्या के पीछे काम करने वाले मुख्य कारक क्या हैं। इनमें नवजात बेटी की हत्या, बालिका भ्रूण हत्या, लड़कियों को खान-पान की कमी, छोटी उम्र में विवाह, ज़्यादा बीमारी और कम इलाज, अधिक काम का बोझ, अशिक्षा और अज्ञानता आदि कारणों को विस्तार से समझाया गया है।

इन आंकड़ों के ज़रिए समाज में गहरे पैठी स्त्री-विरोधी मानसिकता की सच्चाई भी उजागर होती है। दक्षिण एशिया में तीन करोड़ से भी ज़्यादा औरतें कम हैं। अगर हालात ऐसे ही बने रहे तो इन 'लापता' लड़कियों की कमी को पूरा करना नामुमकिन सा हो जाएगा।

इन सभी गंभीर व सोचनीय परिस्थितियों के विश्लेषण के बाद इस पुस्तक में लेखिका ने यह भी समझाने का प्रयास किया है कि लड़कियों व बेटियों को देखभाल, प्यार,

शिक्षा, सेहत आदि प्रदान करने से हमारे समाज पर कितने सकारात्मक प्रभाव देखे जा सकते हैं।

साथ ही लड़कियों के साथ बेरूखी और भेदभाव के व्यवहार के नकारात्मक पहलुओं का भी विश्लेषण इस पुस्तक में किया गया है। कम उम्र में शादी के कारण नन्हीं माएं अपनी व बच्चों की देखभाल व ज़िम्मेदारी ठीक से नहीं उठा पातीं। वे खराब सेहत के साथ-साथ कुपोषण, अनिमिया का शिकार हो जाती हैं। लेखिका ने इसके साथ ही लड़कियों के ऊपर होने वाली यौन हिंसा का भी जिक्र इस पुस्तक में किया है जिसके कारण उन्हें समस्याएं व तकलीफ़ें झेलनी पड़ती हैं।

और अंत में समाज में मौजूद पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था जो बच्चियों के साथ हिंसा, बेकद्री और मोहताजी के लिए ज़िम्मेदार है का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह पुरुष प्रधान ढांचा लड़कियों को लड़कों से निम्न और कमतर समझता है जिसके चलते उनके साथ होने वाली हर नाइंसाफ़ी और बदसलूकी को वैध करार मिल जाता है। यही सोच परिवारों को बाध्य करती है कि वे लड़कियों को शिक्षा, खान-पान, मौकों, सम्पत्ति व अधिकारों से महरूम रखें। समाज में व्याप्त इस असमानता की जड़ों पर चोट करके इसे बदलने की मांग भी पुस्तक में दर्ज है –

लड़कियां दया की भीख नहीं मांग रहीं। वे सिर्फ़ न्याय मांग रही हैं, बराबर के हक़ मांग रहीं हैं। बराबर से ज़्यादा नहीं पर बराबर से कम भी नहीं।

बदलाव की शुरूआत के लिए कुछ ठोस सुझाव भी इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये हैं। बेटियों के खान-पान में सुधार, शिक्षा व सेहत मुहैय्या कराना, बाल विवाह रोकना, उनके ऊपर काम के बोझ को कम करना तथा बालिका भ्रूण हत्या की रोकथाम कुछ ऐसे उपाय है जिन पर ध्यान देने से बेटियों का भविष्य सुरक्षित व खुशहाल बनाया जा सकता है।

हालांकि यह विषय चिंताजनक और गंभीर है पर हालात को बदलना नामुमकिन नहीं है। एक साथ मिलकर, प्रयास करके हम एक ऐसा देश और समाज गढ़ सकते हैं जहां लड़कियों को पनपने और सम्मान के साथ जीने के अवसर मिलेगें। और फिर अपने ही घर, समाज और जीवन में लड़कियों को इंसाफ़ की तलाश क्यों करनी पड़े? यह तो उनका जायज़ अधिकार है जो उन्हें मिलना ही चाहिए। तभी हमारा समाज और देश सम्पन्न बनेगा और आगे विकास की दिशा में अग्रणी होगा।

ये पुस्तक लड़कियों के साथ काम करने वाली विकास संस्थाओं, महिला संगठनों, कार्यकर्त्ताओं, सामुदायिक प्रशिक्षणकर्त्ताओं के लिए विशेष रूप से लाभदायक है। इसकी भाषा सरल, बोलचाल वाली है जिससे इसमें लिखी बातें व सिद्धांतों को समझना कठिन नहीं होगा। पुस्तक के चित्र मनमोहक है जिससे इसमें पाठकों की रुचि बनी रहेगी। साथ ही इसमें बेटियों को सम्बोधित किए गये गीत, नारे व पोस्टर-कविता भी जोड़े गये हैं। ये सभी कारक इस पुस्तक को एक सम्पूर्ण संदर्भ सामग्री का दर्जा प्रदान करते हैं।

– जुही जैन

कैरी (द रॉ मैंगो)

निर्देशक : **अमोल पालेकर**
भाषा : **हिन्दी, अंग्रेज़ी सबटाईटिल के साथ**
अवधि : **96 मिनट (1991)**
कैमरा : **देबू देवधर**
सम्पादन : **वमन भोंसले**
संगीत : **भास्कर चंद्रावरकर**

प्रसिद्ध मराठी लेखक, जी. ए. कुलकर्णी की मराठी लघु कहानी पर आधारित अमोल पालेकर निर्देशित फ़िल्म, *कैरी (द रॉ मैंगो)* एक दस वर्ष की किशोरी और उसकी मौसी की कहानी है। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद यह किशोरी (योगिता देशमुख) अपने मामा, श्रीपू के साथ अपनी तानी मौसी (शिल्पा नवलकर) के घर रहने के लिए आती है। निसंतान तानी इस अनाथ बच्ची को अपने प्यार के साए में रखने का वादा करती है जबकि उसकी अपनी ज़िंदगी में खुशी कोसों मील दूर है। तानी का विवाह एक वैद्य भाऊराव (मोहन गोखले) से हुआ है जो एक असंवेदनशील और निर्दयी पति है। वह अपनी पत्नी को केवल एक नौकरानी समझता है। उसे खाने-पहनने के लिए रोटी-कपड़ा और सर पर छत देकर मानो उसने अपनी ज़िम्मेदारियों से निजात पा ली है। भाऊराव का घर में काम करने वाली बाई तुलसा (लीना भागवत) के साथ नाजायज़ रिश्ता है जिसका दंभ भरती तुलसा अपनी मालकिन तानी को नीचा दिखाने का छोटे से छोटा मौका भी नहीं गंवाती। इन तमाम मायूसियों और तकलीफ़ों के बावजूद तानी में जीने की एक उमंग है। और इस बच्ची के आने से मानो तानी दोबारा जी उठती है।

एक स्नेहशील और सुरक्षित परिवार के माहौल से हटकर एक अनजान दुनिया से जूझने का संघर्ष इस बच्ची को हर कदम झेलना पड़ता है। अपने नए माहौल में मन लगाना, स्कूल में कठोर देशपांडे मास्टरजी की कक्षा में इकलौती लड़की होने के कारण अकेलापन, भाऊराव का डर व बेरूखी सभी कुछ यह लड़की पहली दफ़ा अनुभव करती है।

और इस उजाड़, नीरस वातावरण के बीच उसकी प्रिय तानी मौसी उसके लिए एक स्वप्न-सरीकी कल्पना की दुनिया रचती है जिसमें राजा का कुआं, मोर, जंगल, धूप, झरने और खट्टी-मीठी कैरी शामिल हैं। तानी और किशोरी के बीच प्यार और जुड़ाव का एक घनिष्ठ ताना-बाना उन्हें हिम्मत और खुशी का एहसास देता है। तानी अपनी जीवन की कड़वाहट इस बच्ची को दूर रखने का अथक प्रयास करती है।

इंसानों की इस व्यस्क ज़िंदगी में तानी ने बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं, बहुत समझौते भी किए हैं, पर वह चाहती है कि उसकी भांजी को एक ऐसा सुरक्षा और गर्माहट का माहौल मिले जहां वह खिले-महके और एक सम्पूर्ण बचपन जी सके। अपने छुटपन में खोए एहसासों और ख्वाहिशों से तानी प्रेरणा पाती है और इससे वह किशोरी की दुनिया में उम्मीद, खूबसूरती और प्यार के रंग भरती है। यही धरोहर इस बच्ची को बड़ा होने तक संजोए रखती है और उसे एक लेखिका बनने में मदद करती है।

इस फ़िल्म की खासियत है इसकी सादगी और इसका नाटकीयता रहित सहज कथा-वाचन। कहानी बहुत सीधी साधी है, अक्सर ऐसी जो आमतौर पर हमारे आसपास की घटनाओं से उठाई गई हो। पर इसको बयान करने में निर्देशक ने रिश्तों और ज़िंदगी का एक ऐसा ताना-बाना गूंथा है जो दर्शक को अपनी गिरफ्त में बांधे रखता है।

फ़िल्म का नाम *कैरी* एक लड़की बच्ची के बड़े होने के खट्टे-मीठे अनुभवों का प्रतीक है। साथ ही यह एक व्यस्क महिला की दबी चाहतों और जीने की ललक को भी प्रतिबिंबित करता है।

फ़िल्म की एक और खास बात है इसके किरदार। तानी एक घरेलू महिला है जिसने अपनी ज़िंदगी से समझौता कर लिया है। वह हर हाल में अपनी 'झाडू और चूल्हे' से खुश है और किसी भी परिस्थिति में संघर्ष या झगड़ा करने को उत्सुक नहीं है। पर लड़की की मासूमियत बचाने की हर भरसक कोशिश तानी पूरे जोश से करती है। और तो और किशोरी को लेकर किसी भी गलत बात पर वह विद्रोह कर उठती है और तयशुदा मानदण्डों को चुनौती देने में क्षणिक देर नहीं करती। एक औरत की आंतरिक सशक्तता व का यह पहलू फ़िल्म को गहराई प्रदान करता है।

फ़िल्म की एक विशेष बात यह भी है कि इसमें प्रमुख किरदार तानी मौसी के व्यक्तित्व को कुछ इस तरह दर्शाया गया है जिससे उसकी कल्पना शक्ति और एक सुन्दर कल का तसव्वुर स्पष्ट नज़र आता है। यह तसव्वुर पूरी फ़िल्म के दौरान उसकी आंखों में बसता है और इसी की ठोस ज़मीन से यह किशोरी हौसला और प्रेरणा पाती है।

अपनी भांजी को तानी एक पुरुष प्रधान समाज में जीने की राह और हर मुमकिन अवसर प्रदान करती है। और जैसे-जैसे यह किशोरी अपने बदलते परिवेश में खुद को ढालती जाती है वैसे-वैसे वह व्यस्कों की दुनिया की कड़वी सच्चाइयों को समझती है जो उसके विचारों को आकार देते हैं और उसकी समझ बढ़ाते हैं। उदाहरण के लिए काम करने वाली बाई तुलसा पान चबाती है और उसका घर के मालिक के साथ अवैध रिश्ता है। यह जाने

बगैर ही किशोरी तुलसा को पसंद नहीं करती और कहती है "पान चबाने वाली औरतें बदचलन होती हैं।" वह अपने मौसा और तुलसा की हरकतों के बारे में तानी को बताना उचित नहीं समझती। उसे यह भी समझ है कि तानी मौसी, जो अकेले में रोती रहती है को अपने पति का घर छोड़ देना चाहिए।

फ़िल्म के अंत में अपने पति की हिंसा और घर के बिखरते माहौल को देखते हुए तानी किशोरी को अपने भाई, श्रीपू के पास वापस भेज देती है। वह उसे समझाती है कि उसे बड़ा होना है। "आसपास चीजों को देख, सवाल पूछ। सब कुछ अपने आप समझ जाएगी" यह हिदायत देकर तानी उसे ज़िंदगी को समझने और जानने का पैगाम देती है।

फ़िल्म की मूल कथा तानी मौसी और उसकी भांजी के इर्द-गिर्द घूमती है। निर्देशक ने विभिन्न माध्यमों से यह समझाने का प्रयास किया है कि किशोरावस्था एक ऐसा समय है जिसमें एक किशोरी जीवन के विभिन्न पहलुओं को न सिर्फ़ अनुभव करती है बल्कि इस दौरान मिली हुई सीख और एहसासों का उसके पूरे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। अपने आसपास के माहौल के अनुसार वह खुद को गढ़ने की पूरी कोशिश करती है। अपने मन की बात सुनने और समाज के मानदण्डों के अनुसार व्यवहार करने की जद्दोजेहद उसके मानस में हमेशा बनी रहती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह एक उत्कृष्ट फ़िल्म है जो दर्शकों के दिल पर अपनी छाप छोड़ने में कामयाब रहती है। कभी कलाकारों का अभिनय सहज और सराहनीय है। निर्देशक ने फ़िल्म में कोई ठोस संदेश देने का प्रयास नहीं किया है। उसने सिर्फ़ एक कथा प्रस्तुत की है जिसे दर्शक अपनी समझ के अनुसार आंक सकते हैं। किशोरावस्था चित्रित करने वाली संवेदनशील और बेहतरीन फ़िल्मों में *कैरी* का नाम सदैव शामिल किया जाएगा।

इस फ़िल्म को काफ़ी सम्मान और पुरस्कार प्रदान किये गये हैं जिनमें फुकोका अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्मोत्सव 2000/लंदन फ़िल्मोत्सव/सर्वश्रेष्ठ कहानी/सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेत्री 2001/सन 2001 का सर्वाधिक बेहतरीन नया चेहरा सम्मान/सर्वश्रेष्ठ संगीत स्क्रीन सम्मान आदि शामिल हैं।

– जुही जैन

औरतों की
शक्ति और साहस
को सलाम
8 मार्च
अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस